सम्पादकीय

सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है, दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अँधियाला है।

दिनकर

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा हाल ही में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार भारत के सात राज्यों में गरीबी का स्तर दुनिया के निर्धनतम देशों के बराबर है। विश्व भूख सूचकांक में 88 देशों की सूची में भारत का 66वाँ स्थान है। देश में हर साल 20 लाख बच्चे पाँच वर्ष से कम आयु में ही मर जाते हैं जिसमें से 10 लाख बच्चे भूख और कुपोषण से मरते हैं। लगभग आधे बच्चे कुपोषित होने के चलते अपनी उम्र के हिसाब से कम विकसित और कम वजन के हैं। एक तरफ भुखमरी और कुपोषण की यह भयावह स्थिति और दूसरी ओर सरकारी गोदामों में अनाज सड़ने और भारतीय खाद्य निगम में घोटाले की खबरें भी लगातार आती रही हैं।

इस विकट स्थिति और खाद्य सुरक्षा के प्रति सरकार के निर्मम रवैये के संदर्भ में पी. साईनाथ ने अपने एक लेख में भारतीय शासकों की तुलना **चार्ल्स डीकेन्स** के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास **ओलिवर ट्विस्ट** के पात्रों से की है जो बिल्कुल सटीक है।

> ''यह खाद्यान्न सुरक्षा के प्रति ओलिवर ट्विस्ट रवैया है। उपन्यास का मुख्य पात्र, गरीब ओलिवर ट्विस्ट अपने मालिक से कहता है 'दुहाई मालिक, मुझे थोड़ा और खाना दे दो।' राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के भीतर भी इस उपन्यास के कुछ पात्र हैं। योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलुवालिया चार्ल्स के एक पात्र 'बुम्बले' की भूमिका में हैं तो वित्त मन्त्री 'फॉगिन' की। सच तो यह है कि इन दोनों के आगे बुम्बले और फॉगिन के चरित्र कहीं ज्यादा परोपकारी दिखते हैं। लेकिन जो कुछ आज हो रहा है, उसमें इससे भी ज्यादा बड़ी समस्याएँ अन्तर्निहित हैं। हर क्षेत्र में यही सब हो रहा है, सब कुछ एक सुनिश्चित क्रम में।
>
> ''सदाशयी लोग कानून बनाने की माँग करते हैं। सरकार राजी हो जाती है। इसके बाद भले लोग विधेयक का प्रारूप तैयार करते हैं, सरकार उसे हल्का कर देती है। इसके बाद योजना आयोग इस प्रयास को अव्यवहारिक बता देता है। फिर उस प्रारूप को और भी हल्का और बेअसर बनाया जाता है। तब वित्त मन्त्री कहते हैं ''पैसा कहाँ है?'' और उसे अप्रासंगिक बताते हुए उस पर पानी फेर दिया जाता है। इसके बाद तो भारतीय जनता के सामने बस एक ही रास्ता बच जाता है कि वह सड़कों पर उतरने का अपना अधिकार अमल में लाये।
>
> ''निश्चय ही व्यवहार में यह कदम भी बुरी तरह असफल होता है। उनका निशाना हमेशा अचूक होता है। यानी जब बुम्बले, फॉगिन और द आर्टफुल डोजर तथा डिकेन्स का गिरोह ऐसी किसी भी समस्या को हल करने के लिए अपने खास उपायों के साथ हाजिर होता है स्मार्ट कार्ड, एकल पहचान संख्या, खाद्यान्न कूपन और नगद भुगतान (और उत्पादन बढ़ाने के नाम पर जानलेवा जैव रूपान्तरित फसल जीएम फूड भी)। मामला इसी दिशा में बढ़ रहा है एक बदतरीन मुसीबत की ओर।''

पिछले दिनों 'ओलिवर ट्विस्ट' की इस कहानी में कुछ नाटकीय मोड़ आये हैं और इसमें कुछ नये किरदार भी शामिल हुए हैं। न्यायपालिका, कृषि मन्त्री, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद। और तो और, स्वयंसेवी संगठनों और खाद्य सुरक्षा की माँग करनेवाली संस्थाओं के कर्ता-धर्ता, जिनको राष्ट्रीय सलाहकार परिषद में शामिल किये जाने से यह उम्मीद बनी थी कि वे 'ओलिवर ट्विस्ट' को थोड़ा और खाना दिलाने की कोशिश करेंगे, वे भी महज सोनिया-मनमोहन के साथ फोटो खिंचवाने और प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून में नयी कटौतियों पर सहमति में ताली बजाने की भूमिका में आ गये।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली में व्याप्त दुर्व्यवस्था और भ्रष्टाचार के खिलाफ पीयूसीएल की एक याचिका पर विचार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति दलबीर भण्डारी और न्यायमूर्ति दीपक वर्मा की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने सरकार को फटकार लगाते हुए कहा कि जिस देश में लोग भूख से मर रहे हों, वहाँ अनाज का एक भी दाना बर्बाद करना अपराध है। उन्होंने सरकार को निर्देश दिया कि गोदामों में सड़ाने के बजाय वह गरीबों में मुफ्त अनाज बाँटे।

सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कृषि मन्त्री शारद पवार ने कहा कि सरकार गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों को सस्ता राशन तो दे सकती है,

लेकिन सभी गरीबों को मुफ्त अनाज नहीं दे सकती। इस पर सर्वोच्च न्यायालय ने और भी कड़ा रुख अपनाते हुए कहा कि हमने सरकार को सुझाव नहीं, बल्कि आदेश दिया था कि वह गोदामों में सड़ाने या चूहों को खिलाने के बजाय अनाज गरीबों में वितारित करे।

अगली भूमिका में प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह आये। सितम्बर को समाचार पत्र सम्पादकों के एक छोटे से समूह के साथ अन्तरंग बातचीत में उन्होंने गरीबों को अनाज बाँटने सम्बन्धी सर्वोच्च न्यायालय के फैसले पर अपनी बेबाक राय दी। उन्होंने पूरी साफगोई के साथ यह बता दिया कि खाद्य सुरक्षा के मामले में सरकार की असली मंशा क्या है। आइए, उनके वक्तव्य के कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर गौर करें।

मुफ्त अनाज बाँटने सम्बन्धी सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री ने कहा कि

''मैं आदरपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि सर्वोच्च न्यायालय को नीति निर्माण के क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिए।''

यह सही है कि सर्वोच्च न्यायालय का काम नीति निर्धारण नहीं है। यह भी सही है कि एक तरफ गोदामों में अनाज सड़ना और दूसरी ओर भुखमरी और कुपोषण का बेलगाम होते जाना भी सर्वोच्च न्यायालय के किसी फैसले का नतीजा नहीं, बल्कि सरकारी नीतियों का परिणाम है। यह सब उसी के अधिकार क्षेत्र में आता है। लेकिन सरकार की जनविरोधी नीतियों और घोर लापरवाही के चलते अगर लोग भूखों मरने लगें और अपनी जीवन रक्षा के संविधानसम्मत अधिकार पर सरकारी हमले के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाएँ, तो उसे क्या करना चाहिए? आखिर ऐसी नौबत क्यों आयी कि बात-बात पर सर्वोच्च न्यायालय सरकार को फटकार लगाये? यह सरकारी नीति का ही नतीजा है कि वर्षों तक सरकारी अनाज गोदामों के निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया। इसके बदले घटिया स्तर के गोदाम या खाली जगह किराये पर लिये गये जहाँ बदइन्तजामी के चलते अनाज सड़ता रहा और चूहे खाते रहे, जबकि किरायाजीवियों की तिजोरी भरती रही। इस पर तुर्रा यह कि लोग चुप रहें, सर्वोच्च न्यायालय अपने दायरे में रहे, क्योंकि यह नीतिगत मामला है।

प्रधानमन्त्री ने आगे फरमाया कि

''मैं इस फैसले के पीछे न्यायालय की इस भावना का सम्मान करता हूँ कि जब अनाज सड़ रहे हैं और जनता वंचना से पीड़ित है, तो कोई ऐसा रास्ता निकलना चाहिए कि वंचित लोगों के भोजन की जरूरतें पूरी हों। लेकिन बिलकुल ईमानदारी की बात है कि इस देश के सभी गरीब लोगों को मुफ्त भोजन देना सम्भव नहीं है।''

सीधी बात यह कि भले ही ''अनाज सड़ रहे हैं और जनता वंचना से पीड़ित है'' लेकिन ''सभी गरीब लोगों को मुफ्त भोजन देना सम्भव नहीं है।'' यह सरकार का नीतिगत मामला है और सर्वोच्च न्यायालय को इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए। सवाल यह है कि जनता पर निगरानी रखने के लिए सरकार एकल पहचान पत्र पर एक लाख करोड़ रुपये खर्च कर सकती है? टैक्स में तरह-तरह की रिआयतें देकर पूँजीपतियों को हर साल पाँच लाख करोड़ का तोहफा दे सकती है? लेकिन गरीबों को अनाज देने की बात आती है तो पहले कृषि मन्त्री और फिर प्रधानमन्त्री 'ईमानदारी' और 'स्पष्टवादिता' की आड़ में अपने कर्त्तव्य से हाथ खींच लेते हैं। आप वोट तो एक-एक गरीब से लेंगे, यह वादा करके कि हमारे देश में कोई गरीब भूखा नहीं सोयेगा और कुर्सी पाते ही ईमानदारी से अर्थशास्त्र की घुट्टी पिलायेंगे! इसे ईमानदारी कहें या दगाबाजी और बेमुरव्वती! स्पष्टवादिता या बेहयाई?

प्रधानमन्त्री ने आगे बताया कि

''गरीबी के अलग-अलग आँकड़े हैं, लेकिन यदि तेन्दुलकर कमेटी के अनुमान को लें कि 37 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा के नीचे है, तो अबादी के इतने बड़े हिस्से को आप मुफ्त भोजन कैसे दे सकते हैं।''

काफी अरसे से हमारे देश के शासक गरीबी मिटाने पर तो नहीं, लेकिन गरीबों की संख्या घटाने पर जरूर माथापच्ची कर रहे हैं। अब तक गरीबी के चार तरह के आँकड़े सामने आये हैं, जिनमें योजना आयोग के अनुसार 28 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी के अनुसार 77 प्रतिशत, एन.सी.सक्सेना कमेटी के अनुसार 50 प्रतिशत और तेन्दुलकर कमेटी के अनुसार 37.5 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं।

तेन्दुलकर कमेटी ने योजना आयोग के पैमाने को ही, गाँवों के लिए दैनिक आय 12 रुपये से 15 रुपये और शहरों के लिए 18 रुपये से 19 रुपये करके गणना की। आमदनी में एक-दो रुपये के इस अन्तर से ही आँकड़े में 10 फीसदी लोग गरीबी रेखा के भीतर चले आये। सेनगुप्ता कमेटी की गणना का आधार विश्व बैंक द्वारा निर्धारित 20 रुपये रोज की आमदनी है, जिसके दायरे में 80 करोड़ लोग आते हैं। हालाँकि इनमें से किसी भी पैमाने में भोजन से प्राप्त कैलोरी की मात्रा को शामिल नहीं किया गया है और किसी के लिए यह समझना कठिन नहीं कि महँगाई के इस दौर में 20 रुपये

रोज पर गुजारा करने वालों की स्थिति क्या होगी और वे हर रोज कितना कैलोरी ग्रहण करते होंगे।

खैर, प्रधानमन्त्री ने तेन्दुलकर कमेटी वाले सुविधाजनक आँकड़े का हवाला दिया '37 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा के नीचे हैं जिसे मुफ्त भोजन नहीं दिया जा सकता। प्रधानमन्त्री के इस वक्तव्य ने इस सच्चाई पर मुहर लगा दी कि गरीबों की गिनती की जो कवायद चल रही थी उसका मकसद सबके लिए भोजन की गारण्टी करना नहीं था। दूसरे, खाद्य सुरक्षा कानून का जो ढकोसला किया जा रहा है और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद की बैठकों में गरीबों की संख्या, अनाज की मात्रा और कीमत को लेकर जो जोड़-घटाव किये जा रहे हैं, उनका मकसद गरीबों की खाद्य सुरक्षा नहीं, बल्कि अपनी इस जिम्मेदारी से मुँह चुराना है। इसका खुलासा आगे किया जायेगा।

अब प्रधानमन्त्री के अगले बयान पर आते हैं

> ''उचित मूल्य पर अनाज देने के लिए सरकार प्रतिबद्ध है, लेकिन जहाँ तक गरीबों को मुफ्त अनाज देने का मामला है, स्पष्ट बात है कि अगर हम ऐसा करते हैं तो किसानों को अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहन देना बन्द करना होगा और जब वितरित करने के लिए अनाज उपलब्ध नहीं होगा तो आप क्या बाँटेंगे?''

मतलब यह कि मुफ्त अनाज बाँटना किसान-विरोधी कदम होगा। यह तो किसानों और वंचित लोगों को एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा करना है। यह उसी तरह है, जैसे सरकार ने गरीबी रेखा के ऊपर (एपीएल) की एक मनगढ़ंत श्रेणी बनाकर उसे गरीबी रेखा के नीचे (बीपीएल) के खिलाफ खड़ा कर दिया था। तभी से बीपीएल के पैमाने में हेर-फेर करके उसे एपीएल में धकेलने और उनकी जिम्मेदारी से हाथ खींचने के लिए तरह-तरह के जुगाड़ बैठाये जाने लगे। यानी 19 रुपये रोज कमाने वाले बीपीएल और 20 रुपये कमाने वाले एपीएल। सोचिये, इस देश को चलाने वाले नेता, अर्थशास्त्री और नौकरशाह कितने शातिर हैं।

जहाँ तक किसानों के हित का सवाल है, खरीफ की फसल आने का वक्त करीब है। अब यदि सरकार गोदामों में पड़े-पड़े सड़ रहा अनाज गरीबों तक नहीं पहुँचायेगी तो जाहिर है कि रखरखाव का इन्तजाम न होने का बहाना करके वह किसानों से धान की खरीद कम करेगी। क्या इससे किसान अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहित हो जायेंगे। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का चक्र सस्ती खरीद, भण्डारण और वितरण को तहस-नहस करने वाली नीतियों पर सरकार पहले से ही अमल कर रही है। अब वह रही-सही कसर भी पूरी करने पर आमादा है। इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि अनाज सड़ने और रखरखाव की बदइन्तजामी का बहाना बनाकर सरकार किसानों से अनाज खरीदने और भण्डारण का ठेका भारतीय खाद्य निगम की जगह कारगिल, मोन्सेन्टो या आईटीसी जैसी दैत्याकार अनाज व्यापारी कम्पनियों को सौंप दे। तब जिन किसानों का हितैषी होने का दम भरते हुए सरकार गरीबों को अनाज देने से आनाकानी कर रही है, वे पूरी तरह देशी-विदेशी अनाज व्यापारियों के चंगुल में होंगे। यह भी विचारणीय है कि देश के अधिकांश किसान अपने लिए बाजार से अनाज खरीदते हैं, क्योंकि सभी किसान सभी चीजें नहीं पैदा करते। सच तो यह है कि सरकार को न तो किसानों की चिन्ता है और न ही गरीब जनता की।

प्रधानमन्त्री ने बातचीत के दौरान पत्रकारों को 'पीपली लाइव' देखने की भी सलाह दी। इस फिल्म के प्रमुख पात्र नत्था का हवाला देते हुए, जो खेती की तबाही से तंग आकर आखिरकार शहर चला जाता है और वहाँ निर्माण मजदूर में रूपान्तरित हो जाता है, प्रधानमन्त्री ने कहा कि

> ''गरीबी से बाहर निकलने का एक ही रास्ता है कि ज्यादा लोगों को खेती से बाहर किया जाय।''

प्रधानमन्त्री अर्थशास्त्री हैं। वे जानते हैं कि जमीन का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण, खेती का मशीनीकरण और भारी पूँजी निवेश आर्थिक विकास की निशानी है। अमरीका और यूरोप में बहुत थोड़े लोग कृषि क्षेत्र में लगे हैं और वे देश खुशहाल हैं। लेकिन उन्हें यह भी पता होगा कि भारत और अमरीका एतिहासिक रूप से एक जैसे नहीं हैं। यहाँ किसानों के आगे एक तरफ कुआँ है तो दूसरी तरफ खाई। किसानों को खेती से उजाड़ने वाली सरकारी नीतियों के चलते लाखों किसानों ने आत्महत्या की है। करोड़ों लोग खेती छोड़ चुके हैं। एक सरकारी अध्ययन के मुताबिक देश के 40 प्रतिशत किसान खेती छोड़ना चाहते हैं और कोई दूसरा रोजगार न होने की स्थिति में ही किसी तरह गाड़ी खींच रहे हैं। प्रधानमन्त्री उन्हें क्या भाहर करेंगे, वे तो खुद ही बाहर होने को तैयार बैठे हैं। प्रश्न यह है कि भारत में खेती से बहिष्कृत लोगों के लिए वैकल्पिक रोजगार के नाम पर क्या है?

सरकार की नीतियों के चलते औद्योगीकरण की दिशा नकारात्मक हो गयी है। देश भर में लाखों उद्योग-धन्धे बन्द पड़े हैं। ऐसे में गाँव से शहर आने वाले नत्था जैसे विस्थापितों

को खपाने वाला एक ही क्षेत्र है अनौपचारिक क्षेत्र। सेनगुप्ता कमेटी ने अनौपचारिक क्षेत्र में जीवनयापन करने वालों की दुर्दशा की तस्वीर सरकार के सामने रख दी है। शहर गन्दी बस्तियों, झुग्गी-झोपड़ियों और फुटपाथों पर यह तस्वीर आसानी से देखी जा सकती है। 20 रुपये रोज पर गुजारा करने वाले 77 प्रतिशत लोग इसी क्षेत्र के हैं। यानी किसानी का विकल्प है चौकीदार, माली, दूधिया, घरेलू नौकर-नौकरानी, धोबी, नाई, दिहाड़ी मजदूर, कुली-कबाड़ी और रिक्शा-ठेला खींचना, असंगठित क्षेत्र के कारखानों में जानवरों से भी बदतर हालात में मजदूरी। जो लोग खेती से उजड़ कर पहले ही असंगठित क्षेत्र में शामिल हुए हैं, उनकी दशा ऐसी ही है। प्रधानमन्त्री की राय में गरीबी से बाहर निकलने का यही रास्ता है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के मुताबिक जिन 40 प्रतिशत किसानों ने खेती छोड़ने की इच्छा जाहिर की है, उनकी संख्या करोड़ों में होगी। क्या सरकार इतनी बड़ी संख्या में वैकल्पिक रोजगार पैदा करेगी? फिर क्या प्रधानमन्त्री का यह रास्ता गरीबी हटाने के बजाय गरीब हटाने वाला रास्ता नहीं है?

भूख, कुपोषण और खाद्य सुरक्षा पर मंडराता खतरा आज काफी चर्चा का विषय बना हुआ है। संप्रग सरकार के दूसरी बार सत्ता में आने के बाद से ही एक तरफ भोजन का अधिकार और 'खाद्य सुरक्षा' से सम्बन्धित कानून बनाने का ढोंग-पाखण्ड शुरू हुआ, वहीं अनाज की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि भी होती रही। साथ ही राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सर्वेक्षणों और रिपोर्टों में भुखमरी और कुपोषण की दिनोंदिन बिगड़ती हालत भी उजागार होती रही। निस्संदेह आज खाद्य सुरक्षा खतरे में है, लेकिन जिन लोगों पर इसकी जिम्मेदारी है, वे तरह-तरह के छल-प्रपंच करके इस समस्या को और गम्भीर बनाते जा रहे हैं।

प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून का जो प्रारूप कृषि और सार्वजनिक वितरण मन्त्रालय ने पहली बार जारी किया था, उसमें हर परिवार को हर महीने 35 किलो अनाज देने के आश्वासन को घटा कर के 25 किलो कर दिया गया था। साथ ही खाद्य सुरक्षा के दायरे को केवल बीपीएल कार्ड धारकों तक ही सीमित कर दिया गया था। राज्य सरकारों के लिए यह विकल्प था कि वे अनाज के बदले नगद राशि भी ले सकते हैं। राज्य सरकारों और 'भोजन के अधिकार' को लेकर अभियान चलाने वाले स्वंयसेवी संगठनों ने इस प्रारूप की तीखी आलोचना की। उनका मानना था कि खाद्य सुरक्षा और भोजन का अधिकार तभी सार्थक हो सकता है जब सस्ती दर पर सबके लिए अनाज की व्यवस्था हो। बाद में सोनिया गाँधी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद में एनजीओ से जुड़े कई स्वयंसेवियों को भी शमिल कर लिया गया। इस विस्तारित राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने काफी सोच-विचार करने के बाद हाल ही में जो प्रारूप प्रस्तुत किया है, वह पुराने वाले से भी गया-गुजरा है। इसमें एपीएल और बीपीएल की फर्जी श्रेणियों का विभाजन पूर्ववत है, जिसका मकसद एपीएल का नाम देकर गरीबों की एक बड़ी आबादी को खाद्य सुरक्षा के दायरे से बाहर रखना है।

इस प्रारूप में ग्रामीण इलाकों में राशन बाँटने के लिए दो विकल्प दिये गये हैं। पहला, 80 प्रतिशत परिवारों को 3 रुपये किलो के भाव से 35 किलो अनाज और दूसरा, 42 प्रतिशत परिवारों को 3 रुपये किलो के भाव से 35 किलो अनाज और बाकी परिवारों का 5 रुपये या 5.70 रुपये किलो के भाव से 25 किलो अनाज। शहरी क्षेत्र के लिए 33 प्रतिशत परिवारों को 3 रुपये किलो के भाव पर 35 किलो अनाज देने का प्रस्ताव है।

यहाँ परिवार का अर्थ गाँवों या शहरों के सभी परिवारों से नहीं है। इसमें केवल उन्हीं परिवारों को शामिल किया जायेगा जो बेघर हों, झुग्गी झोपड़ियों में रहते हों या समाज के दुर्बल वर्ग से आते हों। यानी किसी मजदूर परिवार के पास यदि एक कमरे का पक्का मकान है तो उसे इसमें शामिल नहीं किया जायेगा। जाहिर है कि यह ''समावेशी'' वितरण प्रणाली के लुभावने शब्द-जाल के जरिये भारी संख्या में जिन गरीबों को अब तक राशन मिलता था, उन्हें भी हाशिये पर फेंक देने का कुचक्र है। यही नहीं, इस प्रस्ताव के अनुसार देश के केवल 150 जिलों में, यानी केवल एक चौथाई इलाकों में ही यह योजना लागू होगी। बाकी 75 फीसदी जिलों के गरीब इस योजना से बहिष्कृत होंगे।

एपीएल श्रेणी के गरीब, जिनकी आबादी लगभग 40 प्रतिशत है, उनके बारे में यह प्रस्ताव कुछ नहीं कहता। प्रस्तावित कानून का यह प्रारूप अपनी इस घोषणा का मजाक है ''भारत के हर निवासी हक की कानूनी गारण्टी जो उनके भोजन के अधिकार और पोषण की स्थिति को सुनिश्चित करे।'' उल्टे जिन राज्यों में आज भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली कहीं ज्यादा प्रभावशाली ढंग से काम कर रही है और जहाँ 2 रुपये किलो के भाव से सभी परिवारों को 35 किलो अनाज मुहैय्या किया जा रहा है, उसे यह कानून तहस-नहस कर देगा।

सीधी बात यह है कि कानून का प्रारूप तैयार करने वालों ने पहले ही यह तय कर लिया कि इतना ही बजट है और इतने में जितने गरीबों को 3 रुपये किलो अनाज देना है, दे देंगे, उससे ज्यादा बिलकुल नहीं। गरीबों की संख्या घटाने के लिए जो विद्वान अर्थशास्त्री और तथाकथित समाजसेवी नये-नये फार्मूले ढूँढ़ने में माथा खपा रहे थे, उसका मूल उद्देश्य अधिकाधिक गरीबों को सार्वजनिक वितरण प्रणाली से बाहर धकेलना था। इस काम में वे बुरी तरह सफल हुए हैं।

पर्याप्त मात्रा में सबको अनाज बाँटने में ही सरकार की नानी मर रही है, जबकि भूख से भी ज्यादा गम्भीर समस्या कुपोषण है, जिसे दूर करने के लिए इतना ही काफी नहीं है। केवल चावल-गेहूँ खाने से ही लोगों को सभी पोषक तत्त्व नहीं मिल जायेंगे उनके लिए दाल, तेल और सब्जी भी जरूरी है जिनकी आपूर्ति की कहीं कोई चर्चा तक नहीं है। जो गरीब किसी तरह अपना पेट भर लेते हैं, वे भी खुद को कुपोषण से नहीं बचा पाते। देश की लगभग आधी जनता कुपोषण का शिकार है। यही कारण है कि भूख से कहीं अधिक संख्या में लोग कुपोषण और उससे पैदा होने वाली बीमारियों की चपेट में आकर धीरे-धीरे मौत के मुँह में समा जाते हैं।

अगर भोजन के अधिकार को मूल अधिकार बनाना था तो सार्विक मताधिकार की तरह सार्वजनिक वितरण प्रणाली को भी सार्विक, समसर्वत्र और सर्वसमावेशी होना चाहिए था। ऐसा नहीं करके एक बार फिर उसी पाखण्ड को दुहराया गया, जो शिक्षा के अधिकार के साथ हुआ। सच तो यह है कि हमारे शासक न तो सबको पढ़ाना चाहते हैं, न ही सबके लिए भोजन का इन्ताजाम करना।

भूख और गरीबी आसमान से नहीं टपकी हैं। सरकारों ने सचेतन तौर पर जो जनविरोधी नीतियाँ लागू की हैं, ये उन्हीं की उपज है। इन्हीं नीतियों के चलते पिछले 20 वर्षों में अरबपतियों-करोड़पतियों की नाजायज पैदावार भी बढ़ी है। एक तरफ आर्थिक विकास दर में उछाल आया है तो दूसरी ओर सामाजिक दुर्दशा के भी नये-नये कीर्तिमान स्थापित हुए हैं भुखमरी, बेरोजगारी, कर्ज-जाल, किसानों-मजदूरों की आत्महत्याएँ, जच्चा-बच्चा की अकाल मौत, बच्चों और महिलाओं में बढ़ता कुपोषण, सूखा, बाढ़, महामारी, बेरोजगारी अपराध... विश्व मानव सूचकांक और गरीबी सूचकांक में देश का हमेशा अपमानजनक स्थान। इन्हीं परिस्थितियों और दबावों में, न चाहते हुए भी भारतीय शासकों ने जनता के लिए कुछ लुभावने कानून बनाने शुरू किये। खाद्य सुरक्षा कानून भी इन्हीं में से एक है। हमारे देश की सरकार जो काम हकीकत में नहीं करती, उसके नाम पर कानून बनाकर अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री कर लेती है।

खाद्य सुरक्षा और बाजारीकरण दो परस्पर विरोधी चीजें हैं, दोनों एक साथ नहीं चल सकतीं। जिस सरकार ने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों के तहत अनाज व्यापार को देशी-विदेशी लुटेरों के लिए बेलगाम और बेराकटोक खोल दिया है, वह जनता के लिए भला खाद्य सुरक्षा की गारण्टी कर सकती है? जब देश की जनता को सस्ते दर पर अनाज का इन्तजाम पूरी ईमानदारी से किया जायेगा, तो अनाज व्यापारियों के मुनाफे की हवश कैसे पूरी होगी? जाहिर है कि 'भोजन का अधिकार कानून' जनता की आँखों में धूल झोंकना है।

आजादी के बाद हमारे देश के शासकों ने उस दौर के शक्ति-सन्तुलन और संगठित जनमत के दबाव में सीमित संसाधनों के बावजूद खाद्य-सुरक्षा-चक्र की एक समग्र योजना शुरू की थी। इसके तीन पहलू थे। पहला, कृषि क्षेत्र में शोध, विकास और प्रसार की योजनाएँ लागू करके खेती की तरक्की और अधिक अन्न उपजाने पर जोर दिया गया था। साथ ही किसानों को सस्ते दर पर लागत-सामग्री और कर्ज भी उपलब्ध कराया गया था। दूसरा, किसानों को आढ़तियों की लूट से बचाने के लिए समर्थन मूल्य की नीति, फसलों की सरकारी खरीद और भण्डारण के अलावा जमाखोरी और कालाबाजारी रोकने के लिए ढेर सारे उपाय किये गये थे। इसका तीसरा पहलू सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत आम जनता तक सस्ते दर पर राशन पहुँचाना था। खाद्य सुरक्षा के इन तीन पहलुओं में से पहले दो का गला घोंटा जा चुका है। जाहिर है कि तीसरे, यानी जन वितरण प्रणाली को चाहे लाख कानून बनाया जाय, चाहे जितनी भी सदिच्छा और सदाशयता दिखायी जाय, उसे अन्जाम तक नहीं पहुँचाया जा सकता। इसके लिए खेती के पूरे ढाँचे को पटरी पर लाना और अनाज व्यापार के निजी मुनाफाखोरों पर पूरी तरह अंकुश लगाना जरूरी है। सरकार के विश्वस्त सलाहकारों ने इस तरह के सुझाव भी दिये, जिन्हें शासकों ने कूड़ेदान में फेंक दिये। हमारे देश के शासक देशी-विदेशी पूँजी के संश्रय से कायम की गयी इस नयी आर्थिक गुलामी की राह पर काफी आगे निकल गये हैं।

बर्लिन की दीवार ढहने और रूसी खेमे के बिखराव के साथ 1990 के आसपास पूरी दुनिया के शक्ति-सन्तुलन में मूलभूत बदलाव आया था। इसने अमरीकी चौधराहट वाली

साम्राज्यवादी शक्तियों की बहुप्रतीक्षित मनोकामना को आगे बढ़ाने में मदद किया। एकध्रुवीय पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के तहत पूरी दुनिया में एक नयी तरह की गुलामी, साम्राज्यवादी वर्चस्व का एक नया ताना-बाना बुना जाने लगा। भारतीय शासकों ने इस नये माहौल में अपना पुराना वैचारिक चोला उतार फेंका। उन्होंने आयात-प्रतिस्थापन और आत्मनिर्भर पूँजीवादी विकास का नेहरूवादी घरेलू आर्थिक मॉडल और गुट निरपेक्षता की एक हद तक स्वतन्त्र विदेश नीति को तिलांजलि दे दी। इसी के साथ जनता के प्रति अपनी रही-सही जवाबदेही और दुनिया के पैमाने पर साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों के साथ सहयोग की अपनी पुरानी नीति का परित्याग करके उन्होंने साम्राज्यवाद के आगे निर्लज्ज आत्मसमर्पण कर दिया।

इन नयी परिस्थितियों में 1991 की नयी आर्थिक नीति, विश्व व्यापार संगठन समझौता, अमरीका के साथ रणनीतिक साझेदारी और अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में अमरीकी वर्चस्व वाले समझौते लागू किये गये। आयात-निर्यात पर सभी नियन्त्रण हटा दिये गये, सार्वजनिक क्षेत्र के बहुमूल्य उद्योग-धन्धे कौड़ियों के मोल देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले कर दिये गये, कोटा-परमिट-लाइसेन्स राज, सार्वजनिक क्षेत्र और सरकारी नियन्त्रण का मजाक उड़ाते हुए उन्हें तहस-नहस किया गया तथा पूँजी को मुनाफाखोरी और लूट-खसोट का नंगा नाच करने के लिए बेलगाम छोड़ दिया गया। भारतीय जीवन के कोने-कोने में बहुराष्ट्रीय निगमों और उनके भारतीय सहयोगियों की पैठ हो गयी। पहले से ही त्रस्त और बदहाल जनता पर इस नयी आर्थिक गुलामी का असहनीय बोझ डाल दिया गया। इसके लिए सैकड़ों पुराने कानून बदले गये और सैकड़ों नये कानून बनाये गये। इस नयी गुलामी की यही विशेषता है मुठ्ठी भर कुलीनों के अल्पतन्त्र द्वारा संविधान, संसद और कानून की छत्रछाया में बहुसंख्यक देश वासियों के ऊपर नृशंस गुलामी।

जाहिर है कि खाद्य सुरक्षा चक्र भी इस उथल-पुथल से अछूता नहीं रहा। अनाज के मामले में आत्मनिर्भर होने के लिए पहले 'अधिक अन्न उपजाओ' का नारा दिया गया था। इसकी जगह एक तरफ निर्यात-केन्द्रित नगदी फसलों को प्रोत्साहन तथा भारी पूँजी और तकनीक लगा कर कारपोरेट खेती और ठेका खेती को बढ़ावा दिया गया, वहीं दूसरी ओर विदेशी अनाज पर निर्भरता का पुराना ढर्रा दुबारा शुरू किया गया। कृषि क्षेत्र में बजट कटौती तथा किसानों की सहायता और कर्ज में कमी के चलते खेती की लागत बढ़ती गयी जिससे लाखों किसान तबाह हुए। कृषि वैज्ञानिकों और शोध संस्थानों को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सेवा में लगा दिया गया। उनकी प्राथमिकता अब देशी जरूरतों के अनुरूप शोध, विकास और प्रसार करना नहीं, बल्कि आनुवंशिकी और जैव तकनीक पर काम करके बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए भरपूर मुनाफे का जुगाड़ करना है। बीज विकास निगमों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया ताकि विदेशी बीज व्यापारी कम्पनियों मोन्सेन्टो और महिको के लिए रास्ता साफ हो जाये। अनाज की खरीद, भण्डारण और व्यापार के क्षेत्र में दैत्याकार देशी-विदेशी व्यापारियों, जमाखोरों, और सटोरियों के काले कारनामों को कानूनी जामा पहना दिया गया। कृषि उपजों के वायदा कारोबार फ्यूचर और फारवर्ड ट्रेडिंग से प्रतिबन्ध हटा कर सट्टेबाजी और कमरतोड़ महँगाई के लिए जमीन तैयार की गयी। भारतीय खाद्य निगम और केन्द्रीय भण्डारण निगम को बजट कटौती और दुर्व्यवस्था का शिकार बना कर धीमी मौत मरने के लिए छोड़ दिया गया, ताकि निजी व्यापारियों पर अंकुश रखने वाली समानान्तर सरकारी ढाँचा तहस-नहस हो जाय और उन्हें खुलकर खेलने का मौका मिला।

इन्हीं नीतियों के चलते भारी संख्या में लोगों को अपने रोजगार से हाथ धोना पड़ा। रही-सही कसर अनाज की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि, और जरूरी चीजों की आसमान छूती महँगाई ने पूरी कर दी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के दायरे में कम से कम लोगों को शामिल करने के लिए एपीएल और बीपीएल का फर्जी बँटवारा किया गया। लोग भूख से मरते रहे और सरकार गरीबों की गिनती करवाती रही। पहले ही इसकी विस्तार से चर्चा की गयी है। खाद्य सुरक्षा कानून को जिस तरह लचर और बेअसर बनाया जा रहा है उससे एकदम साफ हैं कि सरकार की नीयत लोगों के लिए भोजन की गारण्टी करना नहीं, बल्कि उन्हें भूखा मारना है।

देशी-विदेशी पूँजी के गँठजोड़ से कायम की गयी नयी आर्थिक गुलामी के इस दौर में सरकार चाहे किसी भी पार्टी की हो, बहुसंख्य जनता के लिए सम्मानजनक रोजी-रोटी की गारण्टी नहीं कर सकती। वह केवल ढोंग-पाखण्ड कर सकती है और वह यही कर भी रही है। इस गुलामी से मुक्ति के लिए विवेकपूर्ण और समतामूलक विचारों पर आधारित एक नये सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक ढाँचे का निर्माण करना होगा। निश्चय ही यह एक कठिन, चुनौतीपूर्ण और युगान्तरकारी कार्य है जो व्यापक जनता के दीर्घकालिक, धैर्यपूर्ण, और संगठित संघर्षों के जरिये ही सम्भव हो पायेगा। ❑

यमुना एक्सप्रेस-वे के खिलाफ किसानों का संघर्ष

❑अमरपाल

स्वतन्त्रता दिवस की पूर्व संध्या पर जब देश के नेता और पूँजीपति आजादी का जश्न मना रहे थे, ठीक उसी समय अलीगढ़-मथुरा क्षेत्र में पुलिस किसानों पर लाठियाँ-गोलियाँ चला रही थी। पिछले साल भी जब प्रधानमन्त्री लाल किले पर तिरंगा लहरा रहे थे तभी विदर्भ व अन्य जगहों से किसानों की आत्महत्या की खबरें आ रही थी। एक बार फिर इसी इतिहास को दोहराया गया। फर्क इतना ही है कि इस बार किसानों ने आत्महत्या नहीं की, बल्कि उनकी हत्या हुई। यमुना एक्सप्रेस-वे के लिए छीनी गयी अपनी जमीन के वाजिब हर्जाने की माँग कर रहे किसानों पर पुलिस ने लाठी और गोली चलायी, जिसमें चार लोगों की मौत हुई और दर्जनों घायल हुए। क्या यही आजादी है? क्या न्याय के लिए आवाज उठाना गुनाह है?

किसानों की माँग है कि हमें ग्रेटर नोएडा के बराबर मुआवजा दिया जाये क्योंकि हमारी जमीन वहाँ से अधिक उपजाऊ है। सरकार उनकी जमीन 436 रुपये प्रति वर्ग मीटर के भाव खरीदकर उसे 47000 रुपये प्रति वर्ग मीटर के हिसाब से पूँजीपतियों को बेच रही है। किसान अपनी माँग को लेकर कई महीनों से संघर्ष कर रहे हैं, लेकिन सरकार उन गरीब किसानों पर लाठियाँ और गोलियाँ चला रही है, आखिर क्यों?

पिछले कुछ सालों से देश भर में विशेष आर्थिक क्षेत्र, एक्सप्रेस हाइवे, आधुनिक शहर और खनिज पदार्थों के दोहन के लिए सरकार किसानों की उपजाऊ जमीन हड़प रही है। इसके लिए गाँव के गाँव उजाड़े जा रहे हैं। सरकार और नेता प्रोपर्टी डीलर की भूमिका में उतर आये हैं और खुलेआम जमीन की दलाली कर रहे हैं। किसानों से कौड़ियों के मोल जमीन खरीदकर वे पूँजीपतियों और बिल्डरों को बेच रहे हैं। इस धन्धे में करोड़ों-अरबों की लूट हो रही है। जहाँ-जहाँ भी किसानों की जमीन का अधिग्रहण किया गया, वहाँ-वहाँ किसानों के आन्दोलन हुए हैं, लेकिन सरकार अपने कदम पीछे खींचने के बजाय किसानों का बर्बर दमन कर रही है। 14 अगस्त को अलीगढ़ में भी सरकार ने यही किया।

यमुना एक्सप्रेस-वे के नाम पर दोआबा के किसानों की 1,60,000 हेक्टेयर उपजाऊ जमीन का अधिग्रहण किया जा रहा है। इसके कारण 318 गाँव पूरी तरह उजाड़ दिये जायेंगे। इसके साथ-साथ यमुना एक्सप्रेस-वे औद्योगिक विकास प्राधिकरण के लिए भी 850 गाँवों की जमीन का अधिग्रहण किया जा रहा है। हाल ही में ताजमहल के आस-पास हरित पट्टिका के नौ गाँवों के किसानों की जमीन के सर्किल रेट में हेरा-फेरी करके कौड़ियों के मोल हड़प लिया गया और उसे जे.पी. ग्रुप को सौंप दिया गया। पूरे उत्तर प्रदेश में 23,000 गाँवों यानी प्रदेश के कुल गाँवों में से लगभग एक चौथाई गाँवों की जमीन विकास के नाम पर अधिग्रहित की जा रही है।

दिल्ली से आगरा तक 165 किलोमीटर लम्बी आठ लेन की सड़क बनने जा रही है, जिस पर सिर्फ अमीरों की तेज रफ्तार गाड़ियाँ चलेंगी। आम आदमी की सवारी उस पर से नहीं गुजरेगी। जिन किसानों की छाती पर यह हाइवे बनेगा उनके ट्रैक्टर-ट्राली, या बुग्गी भी उस हाइवे पर नहीं चल पायेंगे, क्योंकि एक्सप्रेस-वे से गुजरने के लिए करीब एक हजार रुपये टोल टैक्स देना पड़ेगा। यह टैक्स सड़क निर्माता कम्पनी जे.पी. ग्रुप 36 साल तक वसूलती रहेगी।

किसान आन्दोलन के निर्मम और बर्बर दमन के ठीक बाद मुख्यमन्त्री मायावती का बयान आया कि जनता ने हमें कानून व्यवस्था के लिए चुना है और हम कड़ाई से कानून का पालन करेंगे। सवाल यह है कि आखिर कानून व्यवस्था को बिगाड़ा किसने? शान्तिप्रिय किसानों को आन्दोलन के लिए किसने मजबूर किया? जब सरकार उनका भविष्य चौपट करेगी, उन्हें अपनी जगह, अपनी जमीन से उजाड़ कर दर-दर का भिखारी बना देगी, तो वे भला चुप कैसे बैठे रहेंगे। देश के विकास के लिए किसानों से जब भी जब भी जमीन माँगी गयी, उन्होंने खुशी-खुशी दी, चाहे नहर के लिए हो, स्कूल-कॉलेजों के लिए, बाँध बनाने के लिए, उद्योग-फैक्ट्री लगाने के लिए, या बिजली घरों के लिए। लेकिन क्या एक्सप्रेस हाइवे और हाइटेक सिटी आम जनता के विकास के लिए बनाया जा रहा

है? तीन फसली उपजाऊ जमीनों पर स्वर्ग से भी सुन्दर शहर, गोल्फ के मैदान, अमीरों के लिए स्कूल, अस्पताल, मल्टीप्लेक्स, सिनेमा घर, शॉपिंग माल, जल-क्रीड़ा केन्द्र और मनोरंजन पार्क बनाना देश का विकास है या अमीरों की अय्याशी का इन्तजाम? मुट्ठी भर अमीरजादों के इस स्वर्ग का निर्माण करने के लिए लाखों किसानों और गाँवों की मेहनतकश आबादी को उजाड़ कर उनकी जिन्दगी नरक से भी बदतर बना देना विकास नहीं, विनाश है। नोएडा और ग्रेटर नोएडा का उदाहरण उनके सामने है। इसीलिए अब वे विकास के झाँसे में आने वाले नहीं है। अलीगढ़, मथुरा, हाथरस, आगरा के किसान आन्दोलन का जायजा लेने गये एक प्रतिनिधिमण्डल की रिपोर्ट में बताया गया है कि आगरा में किसानों से जबरन करार पर दस्तखत कराया जा रहा है और उनकी खेती की जमीन पर जबरदस्ती कब्जा किया जा रहा है। जितने भी करार कराये गये हैं वे फर्जी हैं। इस कृत्य के लिए क्षेत्र के पुलिस और प्रशासनिक अधिकारियों को जे.पी. ग्रुप ने भारी रिश्वत दी है। इस काम में उन्हें सरकार का पूरी तरह शह मिल रहा है। यही कारण है कि अपने जायज हकों की माँग कर रहे किसानों का बेरहमी से दमन किया जा रहा है। इसी तरह अभी अलीगढ़, आगरा और मथुरा में किसानों का आन्दोलन चल ही रहा है कि सरकार ने गंगा एक्सप्रेस वे के लिए इलाहाबाद और फिरोजाबाद जिले के किसानों की 1725 एकड़ भूमि के अधिग्रहण की शुरुआत कर दी है। इस परियोजना के लिए बलिया से लेकर वाराणसी, भदोही, मिर्जापुर और इलाहबाद तक, किसानों ने पैमाइश भी नहीं होने दी। अभी पिछले महीने किसानों ने पद यात्रा करके जमीन अधिग्रहण का विरोध किया और लैण्ड पार्सल के लिए जे.पी. ग्रुप को 400 हैक्टेयर जमीन देने से साफ मना कर दिया। किसानों ने घोषणा की है कि वे अलीगढ़ के किसानों के समर्थन में पूर्वांचल में भी आन्दोलन छेड़ेंगे।

इसी तरह आज सारे देश में विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) के खिलाफ किसान आन्दोलन कर रहे हैं। बंगाल के सिंगूर में किसानों ने टाटा को वहाँ से भगा दिया और अब अपनी जमीन वापसी के लिए आन्दोलन चला रहे हैं। नन्दीग्राम में भी इन्डोनेशिया की कम्पनी सलेम ग्रुप के लिए जमीन अधिग्रहण का फैसला बंगाल सरकार को किसान आन्दोलन के दबाव में वापस लेना पड़ा। उड़ीसा के कलिंग नगर क्षेत्र में अमरीकी मालिकाने वाली दक्षिण कोरिया की स्टील कम्पनी पॉस्को के लिए जमीन अधिग्रहण के खिलाफ 5 वर्षों से किसान लड़ रहे हैं और कई बार लाठी-गोली खाने के बावजूद आज तक पीछे नहीं हटे हैं। केरल के प्लाचिमाड़ा में कोका कोला संयन्त्र के खिलाफ भी किसान एकजुट होकर संघर्ष कर रहे हैं। अभी-अभी फतेहाबाद (हरियाणा) के किसानों ने अपनी उपजाऊ जमीन नाभिकीय संयन्त्र के लिए अधिग्रहित किये जाने के खिलाफ आन्दोलन शुरू किया है।

अलीगढ़ के किसान आन्दोलन को देश के विभिन्न इलाकों के किसानों का समर्थन मिल रहा है। दादरी के किसानों ने बछेड़ा में पंचायत कर किसानों के समर्थन का ऐलान किया है। विदर्भ के किसानों ने भी आन्दोलन का समर्थन किया है। यवतमाल, वर्धा और नागपुर के किसान भी आन्दोलन का समर्थन कर रहे हैं।

आम जनता की लाशों पर राजनीति करने वाले अलग-अलग पार्टियों के नेता भी अब इस आन्दोलन में कूदने लगे हैं। जिस समय किसान अपना संघर्ष चला रहे थे इनमें से कोई भी वहाँ दिखाई नहीं दे रहा था। उनकी पार्टियाँ जहाँ-जहाँ सरकार चला रही हैं, वहाँ-वहाँ किसानों की जमीन हड़पने में वे पीछे नहीं रही हैं। लेकिन किसानों की मौत की खबर आते ही कोई 20 लाख तो कोई 25 लाख मुआवजे की माँग करने लगा। कोई महापंचायत करने लगा, तो कोई प्रदेश बन्द का ऐलान। और तो और, केन्द्र की सत्ता पर काबिज काँग्रेस और उत्तर प्रदेश की शासक पार्टी बसपा ने भी किसानों को भरमाने के लिए आन्दोलन के समर्थन में बयान दे दिया। इन सब में रातोंरात किसानों का हितैषी होने की होड़ लग गयी।

आज विभिन्न पार्टियों के नेता भूमि अधिग्रहण कानून को बदलने की माँग को जोर-शोर से उठा रहे हैं। गुलाम भारत में जमीनों के अधिग्रहण के लिए अंग्रेजों ने 1884 में यह कानून बनाया था। इसके तहत भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह देश के किसी भी हिस्से में सार्वजनिक हित के नाम पर किसी की भी जमीन ले सकती है। भूस्वामी को आपत्ति दर्ज कराने का हक है, लेकिन यह शुरुआती अधिसूचना जारी होने के 30 दिन के भीतर ही दाखिल हो जानी चाहिए। आमतौर पर कोई किसान आपत्ति दर्ज नहीं करा पाता, क्योंकि अधिसूचना गुपचुप तरीके से जारी कर दी जाती है और पुलिस-प्रशासन सीधे जमीन का कब्जा लेने पहुँच जाता है। 2007 से यह कानून संसद में लटका पड़ा है। इस किसान आन्दोलन के गरमाने से पहले इस कानून को बदलने का कहीं किसी नेता ने जिक्र भी नहीं किया। सच्चाई यह है कि अगर सही मायने में ये पार्टियाँ किसानों के साथ होतीं तो आज ऐसी नौबत ही नहीं आती। यह घटना एक रात में नहीं हुई। क्या यमुना एक्सप्रेस वे की बुनियाद भाजपा के शासन काल में नहीं पड़ी थी? क्या काँग्रेस ने सेज के नाम

पर देश भर में किसानों से जमीन छीनकर उन्हें उजाड़ने का काम नहीं किया है? नेता चाहे किसी भी पार्टी के हों, जनता की लाशों पर रोटियाँ सेंकने और अपनी राजनीति चमकाने में आज कोई पीछे नहीं रहना चाहता। लेकिन किसान इनकी चालाकी समझ रहे हैं। वे अपनी पहल पर अपने भरोसे एकजुट हो रहे हैं। अपने बीच के गद्दार और बिकाऊ नेताओं को दर किनार करके वे आज भी अपना आन्दोलन आगे बढ़ा रहे हैं। गाँव से लेकर दिल्ली तक नारे गूँज रहे हैं 'नहीं हड़पने देंगे धरती, जाग उठा है गाँव-किसान,' 'नहीं किसानों को मंजूर, बदलो अधिग्रहण कानून,' 'गाँव किसान का कहना है, जुल्म नहीं अब सहना है।'

देश भर में 500 से अधिक प्रस्तावित सेज परियोजनाओं में से 19 राज्यों में 237 परियोजनाओं को केन्द्र सरकार ने मंजूरी दे दी है। सेज के लिए कुल अधिग्रहित भूमि के चलते देश के 14,000 किसान परिवारों और 82,000 खेत मजदूरों को अपनी रोजी-रोटी से हाथ धोना पड़ेगा। इन परियोजनाओं के लिए करीब 1,50,000 हेक्टेयर जमीन छीनी जायेगी जिनसे हर साल लगभग दस लाख टन अनाज पैदा होता है।

गंगा-यमुना के मैदान की जमीन तीन फसली है। अगर इसे इतने बड़े पैमाने पर जमीन अधिग्रहित कर ली गयी तो खाद्यान्न का संकट बढ़ेगा और हम अनाज के लिए दूसरे देशों पर निर्भर हो जायेंगे।

खाद्यान्नों के लिए भूमि अधिग्रहण ही आदिवासियों के आक्रोश और विद्रोह का भी कारण बन रहा है। आदिवासी मामलों के प्रसिद्ध विद्वान और पूर्व प्रशासनिक अधिकारी बी.डी. शर्मा का मानना है जमीन और रोजी-रोटी के साथ-साथ आदिवासियों की भावनाओं और संस्कृति का भी अधिग्रहण किया जा रहा है, क्योंकि नियामगिरि पहाड़ी पर उनके नियाम देवता का वास है या दंतेवाड़ा में दंतेश्वरी देवी या किसी अन्य पहाड़ी पर किसी अन्य बूढ़े देव का वास है जिसे वे जान से बढ़ कर मानते हैं। इसीलिए वे जीवनमरण का संघर्ष चला रहे हैं। लेकिन जिस तरह कभी अमरीका में अंग्रेज कहते थे कि मरा हुआ रेड इण्डियन ही अच्छा रेड इण्डियन है, उसी तरह आज भारत में कहा जा रहा है मरा हुआ आदिवासी ही अच्छा आदिवासी है। संविधान में उनके प्राकृतिक संसाधनों को जो संरक्षण दिया गया है सरकारें उसका उलंघन कर रही हैं। जनता के हित में जो कानून बने हैं उनकी धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। वन संरक्षण, पुनर्वास, पर्यावरण और सभी मूल अधिकारों को रौंदते हुए जमीन हड़पने और उसे देशी-विदेशी पूँजीपतियों को सौंपने की निरंकुश कार्रवाई की जा रही है। इसका विरोध करने वालों को विकास-विरोधी, देशद्रोही बताकर उनका दमन किया जा रहा है। लेकिन जनता के न्यायपूर्ण संघर्षों को पुलिस-फौज के दम पर कुचलना सम्भव नहीं। ❑

एक पाठक की प्रतिक्रिया

विदेशी विश्वविद्यालयों की घुसपैठ सांस्कृतिक वर्चस्व का नया हथियार

'देश-विदेश' के पिछले अंक में भारत में विदेशी विश्वविद्यालयों की घुसपैठ के लिए रास्ता खुलने पर साथी रामू का लेख यूँ तो अच्छा है, लेकिन उसमें एक महत्त्वपूर्ण पहलू छूट गया है।

दरअसल, ये विश्वविद्यालय महज मुनाफा कमाने यहाँ नहीं आ रहे हैं, बल्कि उनका इससे भी व्यापक एक छुपा हुआ एजेण्डा है जनमानस पर सांस्कृतिक वर्चस्व कायम करना। शिक्षण संस्थान ऐसे केन्द्र हैं, जहाँ एक विशेष किस्म की संस्कृति परोसी जा सकती है और अपने हितोनुकूल मानव निर्मित किया जा सकता है। पूँजीवादी विश्व में शिक्षा और वैज्ञानिक खोज के चरित्र व संघटक समान रूप से बहुराष्ट्रीय निगमों की अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुसार ढलकर उसके हित-साधन के लिए बाध्य होते हैं।

गौरतलब है कि ब्रिटिश गुलामी के दौर में लॉर्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति तो महज शुरुआती प्रयोग थी। बाद के दौर में साम्राज्यवादियों ने इसको और उन्नत बनाया। संयुक्त राज्य अमरीका ने तो बकायदा इसको एजेण्डा बनाया। उसकी शुरुआती प्रयोगस्थली लातिन अमरीकी देश थे। अमरीका के नियन्त्रण वाली अन्तरराष्ट्रीय विकास एजेंसी के प्राथमिक कार्यभारों में एक महत्त्वपूर्ण काम है तीसरी दुनिया के देशों में अमरीका के मॉडल पर विद्यालयों व शिक्षण संस्थानों का निर्माण करना।

वैश्विक पूँजी की शक्तियों ने अपने आधार को स्थायित्व देने के लिए पिछले दौरों में अधिरचना की मजबूती पर, यानी सांस्कृतिक वर्चस्व पर विशेष जोर दिया है। देश में विदेशी विश्वविद्यालयों के प्रवेश का जो रास्ता खुला है, उसे इस परिप्रेक्ष्य में भी जरूर देखा जाना चाहिए।

आदेश सिंह

राष्ट्रमण्डल खेल : किसका गौरव, किसका अपमान

❑ज्ञान प्रकाश

राष्ट्रमण्डल खेल शुरू होने में अब कुछ ही दिन शेष हैं। खिलाड़ियों के मैदान में उतरने से पहले ही नेताओं, नौकरशाहों, कन्सट्रक्शन कम्पनियों, ठेकेदारों, प्रसारण कम्पनियों, देशी-विदेशी पूँजीपतियों, विज्ञापन एजेंसियों और खेल का सामान बेचने वालों में गला-काटू प्रतियोगिता अपने चरम पर पहुँच गयी है। अनियमितताएँ, घोटाले, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, फिजूलखर्ची निर्माण कार्यों से प्रभावित लोगों की दुर्दशा और विरोध-प्रदर्शनों की खबरें लगातार सुर्खियों में हैं।

इस खेल-तमाशे पर लगभग एक लाख करोड़ रुपये फूँक दिये गये हैं, लेकिन कोई भी आश्वस्त नहीं है कि आयोजन सफल होगा ही। जब इन खेलों के आयोजन का जिम्मा दिल्ली ने हासिल किया था, तब इसका बजट 1200 करोड़ था जो आज अपने मूल बजट से कई गुना बढ़कर 87000 करोड़ रुपये तक पहुँच गया है। इससे कहीं बड़े पैमाने का आयोजन लन्दन ओलम्पिक 2012 का बजट 50,000 करोड़ रुपये है। वहाँ पर आयोजन के लिए तैयारी पूरी हो चुकी है। पूर्व खेल मन्त्री और काँग्रेसी सांसद मणिशंकर अय्यर का यह बयान लोगों को चाहे जितना भी कड़वा लगे कि दिल्ली में राष्ट्रमण्डल खेलों का आयोजन एक खर्चीला सर्कस बनकर रह गया है, लेकिन उनकी यह बात सोलह आना सच है। आयोजन की तैयारियों पर फिजूलखर्ची का कोई हद-हिसाब नहीं। करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाये जा रहे हैं। इसके विशाल बजट में से 650 करोड़ रुपये सड़कों को सुन्दर बनाने पर, 900 करोड़ बस डिपो बनाने पर, 3000 करोड़ मेट्रो पर, 18000 करोड़ परिवहन पर, 3700 करोड़ फ्लाईओवर और पुलों पर, 400 करोड़ पार्किंग सुविधा पर, 200 करोड़ संचार और सूचना प्रौद्योगिकी पर, तथा 2000 करोड़ रुपये बिजली घरों पर खर्च किया जा रहा है। इसके अलावा 182 करोड़ महानगर टेलीफोन निगम, 827.85 करोड़ शहरी विकास मन्त्रालय, 487.53 करोड़, सूचना प्रसारण मन्त्रालय और 747 करोड़ स्वास्थ्य मन्त्रालय की ओर से राष्ट्रमण्डल खेलों के नाम पर खर्च होने हैं। खेल और खिलाडियों पर मात्र 670 करोड़ रुपये खर्च किये जा रहे हैं, जो कुल बजट के एक प्रतिशत से भी कम है। सुन्दरीकरण के नाम पर पुरानी सड़कों, फुटपाथ और अन्य ढाँचों को बेवजह ध्वस्त कर बजट बढ़ाया जा रहा है। क्या राष्ट्रमण्डल खेलों के दौरान दिल्ली आने वाले विदेशी पर्यटक शहर के हर गली कूचे का निरीक्षण करने जायेंगे? सवाल यह है कि क्या दिल्ली ही देश है? दिल्ली को चकमदार बना देने से क्या विश्व में भारत की जय-जयकार होने लगेगी? क्या विश्व समुदाय को गरीबी पर हालिया रिपोर्ट के बारे में नहीं पता, जिसमें बताया गया है कि भारत के कुछ राज्य निर्धनतम अफ्रीकी देशों से भी अधिक कंगाली की हालत में हैं। शर्मनाक तो यह है कि जिस देश की आधी आबादी भूख और कुपोषण का शिकार है, वहीं केन्द्रीय सत्ता की नाक के नीचे सार्वजनिक धन की ऐसी बर्बादी हो रही है।

बड़े खेल आयोजन में घोटाले और धन के दुरूपयोग की घटनाएँ आम बात मानी जाती है। सिडनी ओलम्पिक के दौरान भी ऐसे आरोपों की झड़ी लगी थी। 2002 के साल्टलेक विंटर ओलम्पिक खेलों की बोली में 'रिश्वत' का खुला खेल भी काफी चर्चित रहा था। लेकिन दिल्ली राष्ट्रमण्डल खेलों के दौरान वित्तीय अनियमितताओं के आरोपों ने सारे रिकॉर्ड तोड़ दिये हैं। असली खेल तो 2007 में ही खेला जा चुका था, जब भारत में राष्ट्रमण्डल खेलों की तैयारियाँ शुरू भी नहीं हुई थीं। आयोजन समिति के अध्यक्ष सुरेश कलमाड़ी तथा राष्ट्रमण्डल खेल संघ प्रमुख माइक फेनेल और अन्य अधिकारियों की मिली भगत से कई खास ठेके उसी समय विदेशी कम्पनियों को दिये जा चुके थे। इस तिकड़ी ने सभी नियम ताक पर रखते हुए जुलाई 2007 में ही खेलों के प्रसारण का अधिकार लन्दन की कम्पनी 'फास्ट ट्रेक' को और प्रायोजक जुटाने का अनुबन्ध ऑस्ट्रेलिया की कम्पनी 'स्मैम' को दे दिया। आरोप है कि इन कम्पनियों के चुनाव में पारदर्शिता नहीं बरती गयी।

केन्द्रीय नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की गोपनीय रिपोर्ट में आयोजन समिति ने यह माना कि 'स्मैम' का

तकनीकी मूल्यांकन होने से पहले ही उसे सलाहकार बनाने का फैसला कर लिया गया था। कम्पनी ने अपनी ओर से कमीशन का जो ढाँचा सुझाया था उसे नकार कर 22.5 प्रतिशत कमीशन की सबसे ऊँची दर तय की गयी। इसके अलावा प्रबन्धन फीस के तौर पर 25.31 करोड़ रुपये का बोनस-कमीशन अलग से देना तय हुआ। इसी तरह 'फास्ट ट्रेक' को प्रसारण अधिकार जुटाने का काम 15 प्रतिशत कमीशन पर दिया गया, जबकि दूसरी कम्पनी 12.5 प्रतिशत पर तैयार थी। यह दूसरी कम्पनी स्मैम ही थी और आयोजक दोनों के बीच उचित बँटवारे का फैसला पहले ही कर चुके थे।

इसके बाद तो नित नये घोटालों के भण्डाफोड़ की झड़ी लग गयी जिसमें ब्रिटिश कम्पनी ए.एम.फिल्म्स को 4.50 लाख पाउण्ड (3.60 करोड़ रुपये) का एक मुश्त और 25 हजार पाउण्ड (20 लाख रुपये) का मासिक भुगतान, सात लाख मूल्य की कसरत करने वाली ट्रेडमिल के 45 दिनों का 9.75 लाख रुपये किराया, सौ लीटर के फ्रिज का प्रति पीस 42,202 रुपये, कुर्सियाँ प्रति पीस 8,738 रुपये, 4000 रुपये प्रति पीस की दर से 50,000 पहचान पत्रों का ठेका (जबकि ओलम्पिक और विश्व कप क्रिकेट में इस्तेमाल हुए पहचान पत्र की कीमत क्रमशः 1000 व 800 रुपये थी)। यहाँ तक की टॉयलेट पेपर भी कई गुना ऊँची कीमत पर खरीदा गया है। कोषाध्यक्ष ए.के. खन्ना के बेटे की फार्म को ठेका मिलने की बात सामने आयी। पिछले दिनों नागपुर में एक आलीशान क्रिकेट स्टेडियम 90 करोड़ की लागत से तैयार हुआ, जबकि जवाहर लाल नेहरू स्टेडियम की मरम्मत और सजावट पर ही 961 करोड़ रुपये और तालकटोरा स्टेडियम पर 400 करोड़ रुपये खर्च किये गये। इतने पैसे में तो 15-16 नये स्टेडियम तैयार हो जाते। मीडिया और सतर्कता विभाग ने अब तक जो खुलासे किये हैं, उनसे राष्ट्रमण्डल खेलों के निर्माण और प्रबन्धन में घोर अकुशलता तथा हजारों रुपये के घोटाले का पूरी तरह भण्डाफोड़ हो चुका है।

एक ओर खेलों की तैयारियों के बहाने अरबों रुपये फूँके जा रहे हैं, दूसरी ओर विभिन्न खेल संगठनों की तैयारी को देखकर ऐसा लगता है जैसे राष्ट्रमण्डल खेल उनकी प्राथमिकता सूची में नहीं है। एक तो खेल संगठनों में ऐसे लोगों का वर्चस्व है जिनका खेलों और खिलाड़ियों के उत्थान से कोई लेना-देना नहीं है, दूसरे वे खुलेआम मनमानी करने में लगे हैं। हद तो यह है कि खेल संगठनों के पदाधिकारी खिलाड़ियों के यौन शोषण के लिए कुख्यात हो रहे हैं। हॉकी और भारोत्तोलन संघों में खिलाडियों के यौन शोषण का सिलसिला वर्षों से जारी था और किसी ने यह देखने-समझने की जरूरत नहीं समझी कि खेल की आड़ में क्या हो रहा है? खेलों के प्रोत्साहन के नाम पर इन कुकर्मों से खिलाड़ियों में उत्पन्न पीड़ा और वेदना का अहसास करना आम जनता के लिए शायद मुश्किल है।

इस आयोजन का लाभ केवल पूँजीपतियों, नौकरशाहों, ठेकेदारों और नेताओं को मिलने वाला है जबकि खेल, खिलाड़ी और आम जनता का ठगा जाना तय है। दरअसल जनता तो किसी न किसी रूप में तब से ठगी जा रही है जब से राष्ट्रमण्डल खेल प्रस्तावित हुए थे। दिल्ली को पेरिस बनाने वाली शीला सरकार ने हजारों झुग्गी-झोपड़ियों को उजाड़ दिया और गरीबों को घर से बेघर कर दिया। सीलिंग के नाम पर लाखों लोगों का रोजगार छीन लिया गया। फ्लाईओवर और सड़कों के निर्माण कार्य के दौरान पूरी दिल्ली खोद दी गयी जिसके चलते लोगों को ट्रैफिक जाम और धूल-धुँए से रोज जूझना पड़ता है। बरसात शुरू होते ही हालात और भी खराब हो गयी। दिल्ली की जनता डेंगू और मलेरिया जैसी बीमारियों से त्रस्त है। डेंगू के मामले में अब तक रिकॉर्ड 937 मामले सामने आये हैं। स्वास्थ्य विभाग के अनुसार मरीजों की संख्या अभी और बढ़ेगी।

राष्ट्रमण्डल खेलों के चलते जहाँ आम लोगों की बीमारी, बेरोजगारी और लाचारी बढ़ी है, वहीं निर्माण कार्य में लगे मजदूरों की स्थिति और भी भयावह है। कुल 4 लाख 15 हजार निर्माण मजदूर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और छत्तीसगढ़ से आये हैं। इन राज्यों में रोजगार के अवसर नहीं होने के कारण ये लोग खराब से खराब शर्तों पर काम करने को मजबूर हैं। ठेकेदार उन्हें अमानवीय परिस्थितियों में जीने को मजबूर करते हैं। निर्माण स्थल पर आवश्यक सुरक्षा सामग्री न होने के चलते अब तक विभिन्न दुर्घटनाओं में 48 से ज्यादा मजदूरों की मौत हो चुकी है। एक अन्य रिपोर्ट के मुताबिक मृतकों की संख्या 70 से भी ज्यादा है। दुर्घटनाओं के कारण होने वाली स्थायी और अस्थायी विकलांगता का तो कोई जिक्र ही नहीं है। जिस देश में 80 करोड़ लोग 20 रुपये रोज पर गुजारा करते हों, करोड़ों युवा बेरोजगार हों, जहाँ अच्छी

शिक्षा आम आदमी के लिए सपना बनकर रह गयी हो, स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव में लाखों लोग छोटी-छोटी बीमारियों से रोज मरते हों, वहाँ मात्र 12 दिनों के खेलों के आयोजन पर हमारी सरकार हजारों करोड़ रुपये स्वाहा कर रही है।

1876 में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड लिट्टन ने महारानी विक्टोरिया का भारत में स्वागत करने और उन्हें कैसरे हिन्द की उपाधि देने के लिए दिल्ली में एक विराट और भव्य भोज का आयोजन किया था। देश के सभी राजा-महाराजा और नवाब स्वागत में कतार बनाकर खड़े थे। एक हफ्ते तक दावतें चलती रहीं। दूसरी ओर बंगाल में उसी दौरान भीषण अकाल से लोग तिल-तिलकर मर रहे थे। अंग्रेज व्यापारी अनाज की जमाखोरी, काला बाजारी और निर्यात से बेहिसाब मुनाफा बटोर रहे थे। इस अकाल में हजारों लोग काल के गाल में समा गये, जबकि ब्रिटिश हुकूमत और उनके देशी चाटुकार राजा-नवाब-जमींदार इस देश को लूटने और ऐय्याशी करने में लगे रहे। इतिहासकारों ने इस दावत को इतिहास का सबसे बड़ा और अश्लील आयोजन बताया है। अंग्रेजों का गुलाम रह चुके देशों का संगठन राष्ट्रमण्डल और राष्ट्रमण्डल खेल उसी ब्रिटिश हुकूमत की विरासत का शर्मनाक प्रतीक है। राष्ट्रमण्डल खेल महारानी विक्टोरिया के सम्मान में दिये गये भोज से कहीं ज्यादा अश्लील और घृणास्पद आयोजन है, क्योंकि आज भी देश की बहुसंख्या भुखमरी, गरीबी और कंगाली से त्रस्त है। लेकिन हमारे देश का मीडिया, बुद्धिजीवी और राजनीति करने वाले नेता इस सवाल पर मौन हैं और इस झूठी शान पर इठला रहे हैं। यह गम्भीर चिन्ता का विषय है।

खेल का उद्देश्य लोगों में आपसी मेलजोल, भाईचारा, आपसी सद्भावना और एकजुटता कायम करना होता है। लेकिन राष्ट्रमण्डल खेलों की तैयारी के दौरान ही इस उद्देश्य की धज्जियाँ उड़ाई गयीं। लोगों को उजाड़ा गया और उन्हें दुबारा कहीं और ठिकाना नहीं दिया गया। गरीबों की रोजी-रोटी, शिक्षा, इलाज में कटौती करके इस तमाशे पर हजारों करोड़ रुपये पानी की तरह बहाया गया। कुल मिलाकर इस आयोजन के चलते अमीर-गरीब के बीच पहले से ही जो खाई चौड़ी हो रही है वह और भी चौड़ी होगी। पूँजीवाद का स्वाभाविक चरित्र है कि वह हर चीज को मुनाफे में बदल देता है। खेल भी इसका अपवाद नहीं हैं। इस तरह के आयोजन कराकर सरकार दुनिया में भारत को महाशक्ति बनाने का भ्रम खड़ा कर रही है। जो देश सचमुच विकसित हैं उनके लिए ऐसे आयोजन करना सामान्य सी बात है। लेकिन इतनी लम्बी तैयारियों और इतने भारी खर्च के बावजूद इस आयोजन की सफलता संदिग्ध है। यानी सरकार को मान लेना चाहिए कि हमारी औकात क्या है। इस पर पर्दा डालकर झूठा दिखावा करना, ''घर में भूजी भाँग नहीं, ड्योढ़ी पर नाच'' कराना जनता के साथ गद्दारी है।

भारतीय खेल तो वैसे ही हमारे 'काबिल राजनेताओं' की कारगुजारियों से शर्मिन्दा हैं। दशकों से खेल संघों पर काबिज इन राजनेताओं के कारण सवा सौ करोड़ की आबादी वाले देश का विश्वस्तर पर किसी पदक तालिका में नाम ढूँढ़ना भी निराश और शर्मिन्दा कर देता है। खेलों को बर्बादी की कगार पर ला खड़ा करने वाले ये रहनुमा भला सफल राष्ट्रमण्डल खेलों का आयोजन कैसे कर सकेंगे। इनका एक ही मकसद था कि कैसे अधिक से अधिक माल अपनी और अपने लोगों की जेबों तक पहुँचाया जाए और कैसे कॉमनवेल्थ (संयुक्त संपदा) को पर्सनल वेल्थ (निजी संपदा) बनाया जाये। क्या इन हालात में कोई भी सच्चा नागरिक खेलों के सफल आयोजन पर गौरवान्वित महसूस कर सकता है?

मणिशंकर अय्यर ने ठीक ही कहा था कि मैं दिल से चाहता हूँ कि यह आयोजन असफल हो, नहीं तो ये लोग एशियाड करवायेंगे, ओलम्पिक करवायेंगे और गरीब देश को और कंगाल बनायेंगे। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव सूचकांक में 134 वें पायदान पर है। जहाँ जीवन इतने निम्न स्तर पर पहुँच गया हो, वहाँ जन कल्याण की कीमत पर हजारों करोड़ रुपये पानी की तरह बहाना क्या निष्ठुर और अश्लील नहीं। आम जनता के गौरव या अपमान का भला इससे क्या लेना-देना। यह आयोजन राष्ट्रमण्डल खेलों के इतिहास में अभूतपूर्व होगा, इससे सन्देह नहीं। हाँ, पदक तालिका में स्थान के हिसाब से भले ही न सही, फिजूलखर्ची, भ्रष्टाचार, घोटाले, लूट-खसोट, बदइन्तजामी और जनता की दुर्दशा के कीर्तिमान तो स्थापित हो ही रहे हैं। ❑

भोपाल त्रासदी और न्याय का पाखण्ड

□एम. जे. अकबर

अपनी मूल वृत्तियों से और हृदय या अन्तरात्मा की आवाज से संचालित होने वाले विवेकहीन लोग कभी-कभी ही सही होते हैं अक्सर वे गलत होते हैं। इसके विपरीत दोषदर्शी लोगों का दर्शन नैतिक मानदण्डों के आधार पर नहीं बल्कि आँकड़ों और तथ्यों के आधार पर सच्चाई की परख करता है इसलिए वह कभी विवेकहीन नहीं होता।

भारत सरकार की कार्यप्रणाली **चार** स्वयंसिद्धियों पर आधारित है। एक, जनता की याददाश्त बहुत कमजोर होती है; दो, उसका गुस्सा बुदबुदाहट मात्र होता है; तीन, मीडिया को उचित समय पर जनता को धोखा देने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है; और चार, पर्दे के पीछे निजी हितों का पक्षपोषण जारी रखा जा सकता है।

जयराम रमेश का भोपाल में 'ग्रीन ट्रिब्यूनल' के गठन का आश्वासन इस बात का शास्त्रीय उदाहरण है कि सरकार किस तरह पाखण्ड के अचार में रोटी के टुकड़े डुबोकर जनता को लुभा रही है। यह और ऐसे ही अन्य ट्रिब्यूनल पिछले 26 सालों से कहाँ थे जब अपंग, अन्धे और माँ के गर्भ में ही मारे जा रहे बच्चे चीख-चीख कर बता रहे थे कि इंसाफ होना चाहिए। क्या यह ट्रिब्यूनल भोपाल की झोंपड़पट्टियों में सोये लोगों को रासायनिक हमले का शिकार बनाने वाले नरपिशाचों के अगले हमले की तैयारी का हिस्सा है? जब वीरप्पा मोइली यह दावा कर रहे थे कि वारेन एण्डरसन के खिलाफ मुकदमा अभी खत्म नहीं हुआ है तो वे किसे मूर्ख बना रहे थे? वे इस मुकदमे को कुछ और सालों तक क्यों नहीं खींचते ताकि भगवान खुद एण्डरसन को उठा ले और उसे भोपाल के हत्यारे के लिए निर्धारित नरक में भेज दे? एक मन्त्री समूह को जाँच सुपुर्द कर दी गयी है जो तब तक इस मामले को लटकाये रहेगा जब तक यह मामला लोगों की स्मृति-पटल से लुप्त न हो जाये।

भोपाल त्रासदी पर 7 जून 2010 का फैसला महज दिखावा था। असली निर्णय तो घटना के 4 दिनों के भीतर ही हो चुका था दिसम्बर 1984 में ही, जब एण्डरसन को चोरी-छिपे राज्य सरकार के एक विमान में भोपाल से बाहर लाया गया और उसके बाद अमरीका जाने वाले एक हवाई जहाज में बैठाकर देश से बाहर भगा दिया गया। तब से लेकर आज तक हम न्याय का ढोंग और स्वांग होते देख रहे हैं, जिसे सरकार, पुलिस और न्यायपालिका, जिसमें सुप्रीम कोर्ट भी शामिल है, मिलकर खेल रहे हैं। इस नाटक का अन्तिम दृश्य सबसे निन्दनीय है, क्योंकि हम भारत के मुख्य न्यायाधीश ए.एम. अहमदी से पुलिस और राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक उच्च मानदण्डों की आशा करते थे। इसके बदले सेवानिवृत्ति के तत्काल बाद अहमदी को समुचित उपहार भेंट किया गया।

मुख्य न्यायिक जज मोहन तिवारी के फैसले ने केवल एक ही सार्थक भूमिका अदा की। इसमें आरोपी के खिलाफ बरती गयी उदारता इतनी स्पष्ट थी कि इसने सामूहिक अपराधबोध के ज्वालामुखी के मुहाने पर पलीता लगाने का काम किया। इसकी असंख्य दरारों से उबलकर आता हुआ लावा कई परतों वाले उस नकाब को झुलसाता गया जो कई पीढ़ियों से धोखाधड़ी को छिपाने के काम आ रहा था। जब गड़े मुर्दे उखड़ने लगे तो चुप्पी के लिए उचित पुरस्कार न दिये जाने से असन्तुष्ट और निराश अधिकारियों ने भी मुँह खोल दिया, जिससे इस रहस्य का भी पर्दाफाश हो गया कि किस तरह एक के बाद एक सरकारों ने न्यायिक प्रक्रिया को धीमा करने और एण्डरसन के प्रत्यर्पण की किसी भी सम्भावना को समाप्त करने का काम किया। यूनियन कार्बाइड और उसके साथ गँठजोड़ करने वाले शत्रुसहयोगी भारतीयों ने एक झूठ के सहारे खुद को बचाये रखा कि यह एक भारतीय त्रासदी थी, क्योंकि संयन्त्र के निर्माता और संचालक सभी भारतीय थे। जबकि सच यह है कि संयन्त्र की डिजाइन एक अमरीकी संयन्त्र की नकल मात्र था और प्रबन्धन के शीर्ष पर भी एक अमरीकी ही बैठा हुआ था जो भारत में मुकदमा चलाये जाने से भयभीत था।

भारतीय राजनीतिक प्रतिष्ठान का मानना है कि 7 जून 2010 भी इस मसले में कभी-कभी सुनायी देने वाली व्यर्थ चीख की तरह है और भोपाल त्रासदी के लम्बे इतिहास में एक और दिन से ज्यादा इसकी कोई अहमियत नहीं होगी। अदालत की किलेबन्दी की गयी थी और त्रासदी के शिकार लोगों, मुकदमा दायर करने वालों और मीडिया को भी अन्दर नहीं जाने

दिया गया। इस न्यायालय का एक दृश्य आज भी मेरे मानसपटल पर कौंधता है जिसे मैंने टेलीविजन पर देखा था एक तोंदियल पुलिसिये की दम्भपूर्ण मुस्कान, जो निराशा और आक्रोश से विकृत चेहरे वाली दो बूढ़ी औरतों पर हँस रहा था, जो जानती थीं कि इस व्यवस्था ने न सिर्फ उनके बच्चों की मौत के जरिये उनसे छल किया है। बल्कि उनकी जिन्दगी भी छीन ली है।

मेरा यकीन कीजिये, यदि भोपाल की इस महाप्रलयंकारी रात में हजारों नेता, उनके रिश्तेदार या नव धनाढ्य मारे गये होते तो अमरीका में 'आजाद' घूमने की जगह एण्डरसन आज किसी भारतीय जेल में सड़ रहा होता। उसकी तरफदारी में केवल उसकी अपनी कम्पनी और उसकी गोद ली हुई भारतीय मण्डली ही होती। लेकिन भोपाल में केवल गरीब लोग मारे गये थे और हम अपने गरीबों को फालतू फण्ड समझते हैं जिनकी मौत आर्थिक गणना में कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि हमारे पास उनकी कोई कमी नहीं। दरअसल भोपाल एक वर्ग युद्ध है।

सबसे आश्चर्यजनक! जबकि, ओबामा प्रशासन तक अपनी बेमतलब सलाह के साथ इस मामले में कूद पड़ा, प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह के पास कहने के लिए कुछ नहीं है! शायद उनके पास पुरानी बासी बातें ही हैं दोहराने के लिए। सारतः दिल्ली और वाशिंगठन से एक ही संकेत आ रहा हैः 'मरे हुओं को भूल जाओ, बहुराष्ट्रीय जीवन का मजा लो।'

बराक ओबामा का चुनाव इस त्रासदी के शिकार भारतीयों को न्याय दिलाने के लिए नहीं किया गया था, बल्कि उसका काम है दोहरे अमरीकी कानून के उस सिद्धान्त की हिफाजत करना जो अमरीकी अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रेरक है मसला चाहे युद्ध का हो अथवा शान्ति का। जब मेक्सिको के एक तेल कुएँ में हुए विस्फोट में 11 अमरीकी मजदूर मारे गये तो अमरीका ने बी.पी. कम्पनी से 1.5 अरब डॉलर के मुआवजे की माँग की, लेकिन भोपाल में, जहाँ 20,000 लोग मरे और 5 लाख के करीब उसके शिकार हुए थे, अमरीका ने मात्र 0.47 अरब डॉलर ही मुआवजा दिया। गणना कीजिये और सोचिये! हाल के तेल लीक मामले में ओबामा ने बी.पी.पर अरबों डॉलर का जुर्माना लगाने का वायदा किया है। दूसरी ओर हमारे अपने जज श्री मनोज तिवारी जनसंहारक यूनियन कार्बाइड से केवल 5 लाख रुपये का हरजाना माँगते हैं।

अलास्का के तेल रिसाव के लिए एक्सन पर 5 अरब डॉलर का जुर्माना किया गया था जो हर प्रभावित समुद्री ऊदबिलाव के पुनर्वास पर लगभग 40,000 डॉलर बैठता है, जबकि भोपाल त्रासदी के शिकार लोगों के पुनर्वास के लिए अभी तक कुल मिलाकर सिर्फ 200 डॉलर प्रति व्यक्ति ही खर्च किया गया है।

सोचिये मत! सोचेंगे तो सनक जायेंगे। आँकड़े आपको दोषदर्शी बनने के लिए मजबूर कर देंगे। ❑

(इण्डियन एक्सप्रेस से साभार। अनुवाद : ज्ञानेन्द्र)

देश में आपातकाल जैसे हालात

नागरिक अधिकार कार्यकर्त्ताओं ने 'आपातकाल की घोषणा के 35 साल' को याद करने के लिए राजधानी दिल्ली में आयोजित बैठक में देश के कई भागों में इमरजेंसी जैसी स्थिति बनाने के लिए सरकार को दोषी ठहराया।

उल्लेखनीय है कि 25 जून 1975 को तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने देश में आपातकाल की घोषणा करके सरकार के विरोधी लाखों लोगों को जेलों में डाल दिया था। अनेक लोगों को 'गायब' कर दिया गया था और जनता के सभी लोकतान्त्रिक अधिकारों का गला घोंट दिया था।

गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान में पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज् (पी.यू.सी.एल.) और जनहस्तक्षेप द्वारा आयोजित इस बैठक में आरोप लगाया गया कि नागरिक स्वतन्त्रता की हिफाजत करने वाले कार्यकर्त्ताओं और अपनी जगह-जमीन से उजाड़े जाने के खिलाफ लड़ने वाले आम नागरिकों को सरकारी हिंसा का निशाना बनाया जा रहा है और काले कानूनों के तहत जेल में बन्द किया जा रहा है।

वयोवृद्ध समाजवादी नेता सुरेन्द्र मोहन ने कहा कि ''अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाले जिन लोगों को हिंसक आन्दोलन से कोई लेना देना नहीं, उन्हें भी माओवादी और नक्सलवादी बता कर जेलों में डाल दिया जा रहा है। ''पी.यू.सी.एल. के उपाध्यक्ष रवि किरण जैन ने आरोप लगाया कि सरकार मानवाधिकार रक्षकों को डराने की कोशिश कर रही है। बैठक में पारित प्रस्ताव में कहा गया कि सरकार बहुराष्ट्रीय निगमों के मुनाफे के लिए अर्द्धसैनिक बलों और पुलिस का इस्तेमाल कर रही है। उनकी माँग है कि सरकार अपने ही लोगों पर किसी भी बहाने से लागू किये गये सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम और गैर कानूनी गतिविधियाँ निवारण अधिनियम जैसे सभी काले कानूनों को निरस्त करे।''

नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक

मुनाफा निजी, दुर्घटना की जिम्मेदारी सार्वजनिक

□ज्ञानेन्द्र

भोपाल गैस काण्ड में मारे गये 20 हजार लोगों की दर्दनाक मौत हुई थीं, उन्हें कलंकित करने वाले विवादास्पद नाभिकीय उत्तरदायित्व कानून पर संसद की बहुमत ने मुहर लगा दी। सरकार के एक मन्त्री ने देश को आश्वासन दिया कि अब भोपाल गैस त्रासदी जैसे काण्ड दोहराये नहीं जायेंगे।

मन्त्री जी शायद ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि इस कानून के बनने के बाद भोपाल काण्ड जैसी नहीं, इससे भी भयानक त्रासदियों के लिए रास्ता साफ हो गया है।

भोपाल त्रासदी के अपराधियों को कैसे बचाया गया अब यह पूरे देश के सामने है। खुद सरकारी विमान से एण्डरसन को बाइज्जत अमरीका भेजकर हमारी भितरघाती सरकार जनता के साथ न्याय का ढोंग करती रहीं। लोगों के सीधे लड़ने का अधिकार छीनकर वह उनकी ओर से दावेदार बनी, लेकिन काम अमरीकी हत्यारों के लिए करती रहीं। 26 सालों की जनता की लड़ाई का हश्र अगर एक हास्यास्पद फैसले के रूप में हुआ तो इसकी वजह सिर्फ इस देश की भितरघाती सरकार और तमाम बिकी हुई राजनीतिक पार्टियाँ हैं जो सब कुछ शीशे की तरह साफ हो जाने के बाद भी जनता के सामने सच बोलने से कतराती हैं।

देश के यही रहनुमा एक बार फिर देश की जनता को त्रासदी से बचाने का कानून लेकर आये हैं उनका मूल चरित्र आज भी वही है। ''राष्ट्रीय स्तर पर व्यापकतम आम सहमति'' बनाने के बजाय, जिसका वायदा प्रधानमन्त्री ने इस देश की जनता से किया था पहले तो जल्दबाजी में नाभिकीय समझौता और अब उसी तरह आनन-फानन में नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक भी हमारे ऊपर थोप दिया गया। विधेयक को पारित करवाने के लिए सरकार ने मोदी की माफी जैसी घिनौनी 'डील' की और पिछले दरवाजे से विदेशी आपूर्तिकर्ताओं के हितों को मसौदे में घुसाने का तीन-तीन बार प्रयास किया। पहली बार वह आपूर्तिकर्ता को जिम्मेदार ठहराने वाले पैरा 17 (b) को समझौते के प्रारूप से पूरी तरह हटाने का प्रस्ताव लेकर आयी, फिर उसने अनुबन्ध की शर्तों में लिखा होने पर ही आपूर्तिकर्ता को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है इसकी पैरवी की। बाद में जब वह इसे छोड़ने के लिए बाध्य हुई तो उसने ऐसी भाषा लिखी कि आपूर्तिकर्ता तभी जिम्मेदार ठहराया जा सकता है जब दुर्घटना के पीछे उसकी मंशा साबित कर दी जाये। जाहिर है कि सरकार एक विदेशी एजेण्ट की तरह संसद में सौदेबाजी कर रही थी। ऐसे में एक या दो शब्दों के ऊपर कानूनी बहस के कोई अर्थ नहीं रह जाते। देश की सरकार ही जब देश की जनता के हितों की हिफाजत करने के बजाय उसकी पीठ में छुरा घोंपने पर उतारू हो तो फिर हमें त्रासदी से कौन बचायेगा।

इस कानून के आने के बाद, अब भी सरकार वही सब करेगी जो उसने भोपाल त्रासदी के समय किया फर्क बस इतना होगा कि अब सब कुछ लगभग खुलेआम होगा। दुर्घटना के उत्तरदायित्व से विदेशी आपूर्तिकर्ता और निर्माता लगभग पूरी तरह मुक्त रहेंगें। पूरी जिम्मेदारी सरकार ने अपनी ऊपर ले ली है, यानी देश की जनता के ऊपर डाल दी है इस तरह भारत में न्याय का एक नया सिद्धान्त लागू किया गया है: ''मुनाफा निजी सम्पत्ति है, जबकि दुर्घटना की सभी जिम्मेदारियाँ सार्वजनिक हैं।'' सबके बावजूद भी, अगर कहीं कुछ ऐसा प्रावधान रह गया है जिससे विदेशी आपूर्तिकर्ताओं का अहित हो रहा है तो उसका इंतजाम करने के लिए सरकार तत्पर है ही।

हमें बताया गया था कि सार्वजनिक क्षेत्र का एकाधिकार खत्म करके निजीकरण करने से प्रतियोगिता के दौर की शुरुआत होगी और जनता को लाभ होगा, लेकिन नाभिकीय आपूर्तिकर्ताओं के मामले में प्रतियोगिता के सिद्धान्त को ताक पर रखकर उन्हें एक ही नाभिकीय पार्क में 6-6 रिएक्टर लगाने की अनुमति दी गयी। बिना अनुबन्ध की शर्तों पर बातचीत किये उन्हें नाभिकीय पार्क पर एकाधिकार की इजाजत दे दी गयी। कहाँ गयी प्रतियोगिता!

इन विदेशी कम्पनियों को इस बात की कोई परवाह नहीं होगी कि बाजार में उनके द्वारा उत्पादित महँगी बिजली

को कोई खरीदेगा भी या नहीं, क्योंकि इनके द्वारा बनाये गये इन नाभिकीय संयन्त्रों को भारत सरकार चलायेगी। यानी उनका मुनाफा एनरॉन की तरह ही सुरक्षित रहेगा। दूसरे शब्दों में जनता से लिए गये टैक्स से उन्हें सब्सिडी दी जायेगी।

इन कम्पनियों को अपने संयन्त्र लगाने के लिए किसानों से सीधे जमीन भी नहीं खरीदनी है, क्योंकि नाभिकीय पार्क के लिए जमीन का सरकार खुद अधिग्रहण कर रही है जो बाजार भाव से बहुत कम पर किया जाता है। दूसरे शब्दों में, हमारी अपनी सरकार किसानों के हितों की परवाह न करते हुए और हमारे अपने टैक्स के पैसे से जमीन खरीदकर इन कम्पनियों को तोहफे में दे रही है।

विदेशी ईंधन और विदेशी रिएक्टरों के दम पर क्या किसी देश को ऊर्जा सुरक्षा मिल सकती है। वे जब चाहे तारापुर प्लाण्ट की तरह नाभिकीय ईंधन की आपूर्ति बन्द कर सकते हैं। उन पर बहुत ज्यादा निर्भरता हमारी आजादी के लिए घातक होगी। इतना सब विदेशी आपूर्तिकर्ताओं को देने के एवज में हमारे देश को कोई राहत नहीं मिली है नाभिकीय समझौते के अन्तिम प्रारूप में भारत को न तो इ ंधन की अबाध आपूर्ति की गारण्टी दी गयी और न ही परमाणु संवर्धन और रिप्रोसेसिंग पर कोई स्थायी सम्मति। भारत को समझौते में अपने पक्ष से इन्कार करने तक का अधिकार नहीं है और न ही उसे नाभिकीय परीक्षण का अधिकार मिला है। भारत पर लगे तकनीकी सम्बन्धी व्यापार प्रतिबन्ध आज भी कायम हैं। नाभिकीय सुरक्षा छतरी में आ जाने के बावजूद अभी तक न सिर्फ नाभिकीय संवर्धन और रिप्रोसेस तकनीकी और संयन्त्रों के आयात पर रोक बरकरार है, बल्कि इसरो जैसी संस्थाओं द्वारा उच्च तकनीक के आयात पर भी अमरीकी प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। बाकी रही सही कसर इस कानून के आने से पूरी हो जाती है जो इन आपूर्तिकर्ताओं को दुर्घटना की जिम्मेदारियों से भी पूर्णतः मुक्त रखने की सरकार की मंशा को सबके सामने उजागर कर देता है कितना शर्मनाक हैं कि पूरी संसद में सरकार की यह मंशा और उसका शत्रुसहयोगी रवैया संघर्ष का मुद्दा नहीं बना। मुआवजे की सीमा 500 करोड़ से बढ़कर 1500 करोड़ करने मात्र से विपक्ष सन्तुष्ट हो गया। कोई भी पार्टी, यहाँ तक कि संसदीय वामपन्थ भी इस मुद्दे को जनता के बीच ले जाने को तैयार नहीं है। संसदीय वामपन्थ इसी संसद की कभी इस तो कभी उस अवसरवादी पार्टी के साथ मिलकर सरकार के साथ नूरा कुश्ती कर रहा है। वह भी संसदीय क्लब का हिस्सा बन चुका है और अभिजातवर्गीय ऐशोआराम को छोड़कर जनता के बीच जाने का कष्ट उन्हें अब गवारा नहीं है। इस तरह पूरी संसद का चरित्र ही अब राष्ट्र विरोधी बन चुका है।

यह एक अभूतपूर्व परिस्थिति है। राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकार जैसे शब्द भ्रामक हो गये हैं। समझना मुश्किल है कि देश की बागडोर वास्तव में किसके हाथ में है? हमारी राष्ट्रीय सरकार और संसद किसानों से कौड़ियों के मोल जमीनें छीनकर विदेशी नाभिकीय आपूर्तिकर्ताओं को दे रही हैं, उन्हें बिना स्पष्ट अनुबन्ध के नाभिकीय पार्कों पर एकाधिकार दिये गये हैं, हर तरह की प्रतियोगिता और बाजार में बिजली बेचने के झंझट से भी उन्हें हमारी अपनी सरकार ने मुक्ति दे दी है। और तो और, दुर्घटना की जिम्मेदारी भी हमारी सरकार ने अपने सिर ले ली है इसके बावजूद कि इन्होंने अपनी ओर से किया गया कोई वायदा नहीं निभाय। इतनी सुविधाएँ तो इन रिएक्टर निर्माताओं और नाभिकीय आपूर्तिकर्ताओं को अपने देश में भी नहीं मिलतीं। जाहिर है कि एक गुलाम देश में ही उन्हें इतनी सुविधाएँ मिल सकती हैं जिसका प्रधानमन्त्री उन्हें भारत में निमन्त्रित कर खुद को कृतज्ञ महसूस करता है और पीछे 200 साल की गुलामी के लिए राज्य को उनका आभारी मानता है। नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक नवम्बर में महामहिम ओबामा की भारत यात्रा पर उनकी ओर से तोहफा होगा।

अब इस देश की जनता को ही सोचना है कि इस गुलामी से कैसे मुक्ति पायी जाये। जब देश की सरकार ही शत्रुसहयोगी रवैया अपना ले, जब सुरक्षा के लिए लगायी गयी बाड़ ही खेत को खाने लगे, जब देश के रहनुमा ही देश को बेच डालें तो और रास्ता ही क्या बचता है? ❑

पेट्रोल-डीजल की कीमतों में वृद्धि

तेल देखो, तेल की धार देखो

❑पारिजात

पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि करने के बाद प्रधानमन्त्री का कहना था कि ''पेट्रोलियम पदार्थों में दी जा रही सब्सिडी उस स्तर तक पहुँच गयी है कि हमारी अर्थव्यवस्था अब उसका और प्रबन्ध नहीं कर सकती। इसलिए यह निर्णय लिया गया है कि कुछ भार आम आदमी पर डाला जाय। ये बोझ उसके लिए सहनीय है।''

1991 में वित्त मन्त्री के रूप में नई आर्थिक नीति पेश करते हुए मनमोहन सिंह ने जनता से 'बेल्ट टाइट' करने की अपील की थी। इन 20 वर्षों में एक तरफ जनता अपना पेट सिकोड़ती जा रही है तो दूसरी ओर देशी-विदेशी थैलीशाहों और धनाढ्यों की चर्बी परत दर परत बढ़ती जा रही है। ऐसे में सरकार की हर अपील जनता के जख्मों पर नमक रगड़ने जैसी है।

पेट्रोल, डीजल, रसोई गैस और किरासन तेल की कीमत बढ़ाने को जायज ठहराते हुए भारत सरकार के पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस मन्त्रालय ने अखबारों में एक विज्ञापन दिया है। जनता के पैसों से ही जनता को भरमाने के लिए प्रकाशित यह विज्ञापन झूठ-फरेब का पुलिन्दा है। इसमें कीमत बढ़ाने के लिए जो तर्क और कारण दिये गये हैं उन पर गौर करें तो यह बात साफ-साफ समझी जा सकती है।

दुनिया के बाजारों में बढ़ती कीमतों का प्रभाव

सरकार कहती है कि पेट्रोलियम पदार्थों की घरेलू माँग का 80 फीसदी हिस्सा आयात से पूरा होता है। अन्तरराष्ट्रीय बाजारों में इसकी कीमतें घटती-बढ़ती रहती हैं, जिसका सीधा असर हम पर पड़ता है। यानी सरकार ने विश्व बाजार में मूल्यवृद्धि के चलते कीमत बढ़ायी है।

मई, 2009 में दूसरी बार यूपीए सरकार बनने से अब तक विश्व बाजार में कच्चे तेल की कीमत में सिर्फ 70 पैसे प्रति लीटर की बढ़ोत्तरी हुई है। मई, 2009 में कच्चे तेल की अन्तरराष्ट्रीय कीमत 70 डॉलर प्रति बैरल थी और 1 डॉलर का मूल्य 49 रुपये था। यानी उस वक्त कच्चे तेल की कीमत 21.43 रुपये प्रति लीटर थी। 1 बैरल लगभग 160 लीटर के बराबर होता है। आज विश्व बाजार में कच्चे तेल की कीमत 77 डॉलर प्रति बैरल यानी 22.13 रुपये प्रति लीटर है (1 डॉलर बराबर 46.22 रुपये)। इस हिसाब से कच्चे तेल की अन्तरराष्ट्रीय कीमत में सिर्फ 70 पैसे प्रति लीटर की बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन सरकार ने पिछले छः महीनों में पेट्रोल पर 6.44 रुपये प्रति लीटर, और पिछले चार महीनों में डीजल पर 4.55 रुपये प्रति लीटर की बढ़ोत्तरी की है और अब उसने किरासन तेल पर 3 रुपये प्रति लीटर और घरेलू गैस पर 35 रुपये प्रति सिलिण्डर की बढ़ोत्तरी कर दी है।

अन्तरराष्ट्रीय कीमतों का बहाना बना कर सरकार बेहयाई के साथ कीमत बढ़ा रही है, जबकि पिछले तीन महीनों में ऐसी कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। इसका अर्थ यह है कि पिछले बजट (फरवरी 2010) के बाद पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतों में जो बढ़ोत्तरी की गयी है उसका विश्व बाजार में कीमतों के उतार-चढ़ाव से कोई लेना देना नहीं है।

सरकारी विज्ञापन में कहा गया है कि भारत अपनी जरूरत का 75 से 80 फीसदी पेट्रोलियम पदार्थों का आयात करता है। सच्चाई यह है कि भारत पेट्रोलियम पदार्थों का नहीं, बल्कि कच्चे तेल का आयात करता है जिसे यहाँ के तेलशोधक कारखानों में शोधित किया जाता है और पेट्रोल, डीजल, किरासन तेल और घरेलू गैस का उत्पादन होता है। तेल शोधन के मामले में देश पूर्णरूप से आत्मनिर्भर है और अपनी घरेलू जरूरतों से ज्यादा पेट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन करता है। 2009-2010 (अप्रैल-दिसम्बर) में 1करोड़ टन पेट्रोलियम उत्पादों का आयात किया गया। जबकि इसके दो गुने से भी अधिक (2-8 करोड़ टन निर्यात) किया गया। जाहिर है कि सरकार का आयात पर निर्भरता का तर्क भी बेबुनियाद है।

कम वसूली या अण्डर रिकवरी का झूठा बहाना

सरकार का कहना है कि यदि पेट्रोलियम पदार्थों के खुदरा मूल्य नहीं बढ़ाये गये तो तेल विपणन कम्पनियों को मौजूदा वित्तीय वर्ष में 7 हजार करोड़ की भारी अण्डर रिकवरी (कम वसूली) झेलनी पड़ेगी।

आखिर ये अण्डर रिकवरी या कम वसूली है क्या?

पिछले कुछ सालों से सरकार अण्डर रिकवरी जैसे अजूबे का राग अलाप रही है। लेकिन किसी भी कम्पनी की बैलेंस सीट में इसका कोई जिक्र नहीं है। जनता की आँख में धूल झोंकने के लिए पूँजीवादी मीडिया की मदद से यह बताया जा रहा है कि अण्डर रिकवरी विपणन कम्पनियों द्वारा उठाया जाने वाला घाटा है। यानी, यदि आयातित पेट्रोलियम के मूल्य बढ़ रहे हों और पेट्रोलियम पदाथो ं के घरेलू मूल्य स्थिर कर दिये जायें तो तेल बेचने वाली कम्पनियों द्वारा जनता से की गयी वसूली उनकी लागत से भी कम होगी। यही नुकसान अण्डर रिकवरी है।

इन्दिरा गाँधी के शासन काल में 1976 में बर्माशेल, कैलटेक्स, एस्से जैसी बड़ी विदेशी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। इससे पहले ये लुटेरी विदेशी कम्पनियाँ भारतीय उपभोक्ताओं से पेट्रोलियम पदाथो ं की विश्व कीमत वसूल कर मोटा मुनाफा कमाती थीं। अन्तरराष्ट्रीय कीमत वसूलने की यह व्यवस्था 'इम्पोर्ट पैरिटी प्राइसिंग सिस्टम' (आयात के बराबर मूल्य व्यवस्था) कहलाती है। ये बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियाँ और इनके संघ मिलकर दुनिया के तेल बाजार को नियन्त्रित करते हैं और जोड़-तोड़ करके मूल्य तय करते हैं। 1976 में सरकार ने समान मूल्य की आयात व्यवस्था को खत्म कर एडमिनिस्ट्रेटिव प्राइसिंग मैकेनिज्म (प्रशासनिक मूल्य क्रिया विधि) नामक एक नई व्यवस्था शुरू की। आत्मनिर्भर विकास की कोशिश के उस दौर में सरकार की मंशा थी विदेशों से पेट्रोलियम उत्पादों के आयात पर निर्भरता को खत्म कर घरेलू परिशोधन (रिफाइर्निंग) क्षमता को बढ़ावा देना। इस व्यवस्था के तहत पेट्रोलियम उत्पादों के अन्तरराष्ट्रीय कीमतों को आधार नहीं बनाया जाता था। इसकी जगह सरकार कीमत और उसके शोधन खर्च का आंकलन करके उत्पादों का दाम तय करती थी जिसमें कम्पनियों का ठीक-ठाक मुनाफा भी शामिल होता था।

दिलचस्प बात यह है कि जिस समय तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा था उस समय मनमोहन सिंह वित्तमन्त्री के मुख्य आर्थिक सलाहकार थे। इसके बाद 1991 की नयी आर्थिक नीति मनमोहन सिंह की देखरेख में ही लागू की गयी, जिसका मकसद राष्ट्रीयकरण की नीतियों का त्याग करके देशी-विदेशी निजी कम्पनियों की लूट का रास्ता साफ करना था। निजी कम्पनियों के भारी दबाव के चलते 2002 में भाजपा सरकार ने प्रशासनिक मूल्य क्रिया विधि को खत्म कर दिया और इसकी जगह लुटेरी व्यवस्था आयात के बराबर मूल्य व्यवस्था को दुबारा लागू कर दिया गया। खोज और शोधन में आत्मनिर्भरता हासिल कर लेने के बावजूद पुरानी लुटेरी व्यवस्था को दुबारा शुरू करना साम्राज्यवाद के साथ शासक वर्ग की साँठ-गाँठ का नतीजा है।

आयात के बराबर मूल्य व्यवस्था लागू होने के चलते अब अन्तरराष्ट्रीय कीमतों के आधार पर भुगतान करना हमारी मजबूरी है। तेल एवं प्राकृतिक गैस कार्पोरेशन (ओएनजीसी) और ऑयल इण्डिया आज भी काफी सस्ता तेल पैदा कर रहे हैं और अपनी सार्वजनिक क्षेत्र की रिफाइनरियों में वैश्विक बाजार के मुकाबले बहुत-कम कीमत पर तेल शोधित करते हैं। इसके बावजूद सरकार अन्तरराष्ट्रीय कीमत के आधार पर वसूली की हिमायत कर रही है। सरकार 'कम वसूली' या अण्डर रिकवरी के इसी काल्पनिक नुकसान' का हौव्वा खड़ा कर रही है, जिसका वास्तविकता से कोई लेना-देना नहीं है।

यह कुछ इसी तरह की बात हुई कि मान लीजिये अमरीका में किसी सामान की कीमत 1000 रुपये है और भारत में हम उसे 600 रुपये में ही तैयार कर लें। अब हमारे लिए आयात के बराबर मूल्य व्यवस्था की अनिवार्य शर्त है कि हमें भी वह सामान 1000 रुपये में बेचना है। 600 रुपये में देने पर कम्पनी को 400 रुपये की 'अंडर रिकवरी' झेलनी पड़ेगी। सरकार उस घाटे का बहाना बना रही है जिसका अस्तित्व ही नहीं है।

देश की जनता को बाजार की दया पर छोड़ने के लिए अब किरीट पारेख कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार किया जा रहा है। 2002 के बाद से ही रिलायंस और एस्सार जैसी निजी क्षेत्र की घरेलू कम्पनियाँ भाजपा सरकार द्वारा उठाये गये कदमों से सन्तुष्ट नहीं थीं और नियन्त्रण को ढीला करने की माँग कर रही थीं। निजी क्षेत्र की माँगों पर ध्यान देने के लिए बनी किरीट पारेख कमेटी ने पेट्रोल उत्पादों के पूर्ण अनियन्त्रण की सिफारिश की थी। सरकार के इस जनविरोधी कदम के साथ-साथ अब देश में दुबारा विदेशी तेल कम्पनियों को न्यौता दिया जा रहा है। जाहिर है कि सरकार को देश की जनता की नहीं, बल्कि देशी-विदेशी तेल कम्पनियों की चिन्ता ज्यादा सता रही है।

तेल विपणन कम्पनियों का मुनाफा बढ़ाने के लिए दाव-पेंच

मूल्य-वृद्धि को सही साबित करने पर तुली सरकार तथ्यों और तर्कों का गला घोंटने पर आमादा है। प्रधानमन्त्री और पेट्रोलियम मन्त्री दोनों यह दावा करते हैं कि कीमतों में

हाल में की गयी बढ़ोत्तरी सार्वजनिक क्षेत्र की तेल कम्पनियों को दिवालिया होने से बचाने और उपभोक्ता हितों की रक्षा के लिए व्यापक राष्ट्रीय हित में की गयी है।

सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख तेल विपणन कम्पनी, इण्डियन ऑयल कार्पोरेशन के बारे में 2009-10 की सालाना रिपोर्ट में पेट्रोलियम मन्त्री ने खुद ही बताया था कि 2008-09 के दौरान इण्डियन ऑयल कार्पोरेशन (आईओसी) का सालाना कारोबार 2,85,373 करोड़ रुपये था। पेट्रोलियम के चार प्रमुख उत्पाद पेट्रोल, डीजल, जन वितरण प्रणाली का किरासन तेल और घरेलू गैस की कीमतें स्थिर रखने के बावजूद इसका मुनाफा 2,950 करोड़ रुपये था। फॉर्च्यून ग्लोबल 500 की सूची में आईओसी पहली और सबसे बड़ी भारतीय कम्पनी है। यह दुनिया की 18वीं सबसे बड़ी पेट्रोलियम कम्पनी है। वर्ष 2009-10 में (दिसम्बर 2009 तक) टैक्स के बाद इसका सालाना कारोबार 2,08289.46 करोड़ रुपये और मुनाफा 4,663.78 करोड़ रुपये था। 31 मार्च को खत्म हुए साल के वित्तीय परिणामों के मुताबिक आईओसी का शुद्ध मुनाफा 10,998 करोड़ रुपये है और इसके बाद भी 49,472 करोड़ का रिजर्व और अधिशेष बचा है। अप्रैल-दिसम्बर 2009 के मध्य दो अन्य प्रमुख विपणन कम्पनियों एचपीसीएलऔर बीपीसीएल का शुद्ध मुनाफा क्रमशः 544 करोड़ और 834 करोड़ रुपये था।

इतना मुनाफा कमाने के बावजूद आखिर क्यों सरकार को ये कम्पनियाँ दिवालिया होती नजर आ रही हैं? क्या कीमत बढ़ाना ही इसका एक मात्र विकल्प है?

आईओसी ने 2009-10 में इसी सरकार को 26,050 करोड़ रुपये एक्साइज ड्यूटी के तौर पर तथा 4049 करोड़ रुपये दूसरे करों के रूप में दिये हैं। इसके अतिरिक्त इसने 2007-2008 में 656 करोड़ रुपये और 2008-09 में 910 करोड़ रुपये लाभांश भी सरकार को दिया, और 2009-10 में कम-से-कम 3000 करोड़ रुपये अभी और लाभांश के तौर पर देना है।

अगर सरकार वास्तव में तेल कम्पनियों को दिवालिया होने के प्रति रत्तीभर भी चिन्तित होती तो सबसे पहले एक्साइज ड्यूटी को खत्म करती, लेकिन बेहयाई की हद है कि सरकार ने इन्हीं दिवालिया होती कम्पनियों को रायबरेली के राजीव गाँधी पेट्रोलियम संस्थान के लिए 250 करोड़ रुपयों का अनुदान देने को कहा है।

आईओसी की सालाना रिपोर्ट के अनुसार उसके पास इस समय 65000 करोड़ की चालू परियोजनाएँ हैं। इसी दौरान अपने न्यूक्लियर पॉवर कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया के साथ एक संयुक्त उद्यम लगाने के लिए समझौते पर भी हस्ताक्षर किया है। यह एक विराट पूँजी वाला उद्योग है जिसमें निश्चित आमदनी कम है।

जाहिर है कि सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के दिवालिया होने का जो बखेड़ा सरकार ने खड़ा किया है उसे समझने के लिए ये तथ्य ही काफी हैं।

हम भी दूसरे देशों की तरह ही हैं

सरकार घरेलू गैस और किरासन तेल के दामों की तुलना अपनी सहूलियत के हिसाब से चुने गए नेपाल और बांग्लादेश से करती है, जहाँ कीमतें अधिक हैं। इन देशों में न तो बेहतर तेल शोधक कारखाने हैं और न ओएनजीसी जैसी विराट सरकारी कम्पनियाँ। ऐसे में इनसे तुलना करके सरकार कीमत बढ़ाने की अपनी कारगुजारी को उचित ठहराती है।

दूसरी तरफ पेट्रोल और डीजल पर भारी टैक्स लगाकर दूसरे देशों के मुकाबले पेट्रोलियम पदार्थों को महँगा कर रही है। सरकार चाहे तो अपनी कर प्रणाली में फेरबदल करके पेट्रोल, डीजल की कीमत घटा सकती है और जनता को राहत पहुँचा सकती है।

एनर्जी एडमिनिस्ट्रेशन की रिपोर्ट के मुताबिक ऐसे 54 देश हैं जिनकी शोधन क्षमता उनके उपयोग से ज्यादा है। भारत भी उनमें से एक है। इनमें से केवल कुछ देशों (क्रोएशिया, फिलिपाइन्स, दक्षिण अफ्रीका) ने ही आयात के बराबर मूल्य प्रणाली अपनायी है। मलेशिया और तुर्की में भी खुदरा कीमतें अन्तरराष्ट्रीय बाजार से तय होती हैं।

तेल शोधन में आत्मनिर्भर होने के बावजूद सरकार ऐसी मूल्य व्यवस्था क्यों अपना रही है जो पेट्रोलियम पदार्थों की वैश्विक कीमतों से तय होती है। पहले ही महँगाई की मार झेल रही देश की बहुलांश आबादी की आय बहुत ही कम और अनिश्चित है, लेकिन इसकी रत्तीभर भी परवाह किये बगैर सरकार उस पर नये-नये बोझ डालती जा रही है।

सरकार पर बोझ बढ़ेगा

पेट्रोलियम मन्त्रालय का कहना है कि ''दाम बढ़ने के बाद भी सरकार प्रतिवर्ष 53,000 करोड़ रुपये का बोझ सहेगी।''

अपनी बात की पुष्टि के लिए मन्त्रालय के पास कोई ठोस तर्क नहीं है। मन्त्रालय के बजट में भी इस रकम का

कोई जिक्र नहीं है। ऐसा लगता है कि 'अण्डर रिकवरी' जैसी कपोल कल्पित धारणा की तरह ही 53,000 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष के बोझ की यह कहानी भी बकवास है।

सच्चाई इसके विपरीत है। 2009-10 के दौरान पैट्रोलियम क्षेत्र ने कर, ड्यूटी, लाभांश आदि की शक्ल में केन्द्र सरकार के खजाने में 90,000 करोड़ रुपये का योगदान किया है। 2010-11 के दौरान, कर में वृद्धि के चलते, यह योगदान 1,20,000 करोड़ रूपये से भी ज्यादा का होने की सम्भावना है।

ऐसे में यह सवाल उठना लाजमी है कि सरकार जनता का बोझ उठा रही या जनता के खून-पसीने की कमाई से तैयार सार्वजनिक क्षेत्र की तेल कम्पनियाँ सरकार का बोझ उठा रही हैं।

कैसी विडम्बना है कि जनता के द्वारा चुनी हुई सरकार उसी जनता का खून चूसने पर उतारु है और इसे जायज ठहराने के लिए झूठ-फरेबों का अम्बार लगा रही है।

कहते हैं कि सच्चाई कभी-कभी सर चढ़कर बोलती है। पेट्रोलियम मन्त्री ने हाल ही में अपने साक्षात्कार में कहा है कि

''मुक्त बाजार व्यवस्था से सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच प्रतियोगिता पैदा होगी। इससे सेवा में बेहतरी आयेगी और यह प्राइस-वार की ओर भी ले जा सकता है।''

जाहिर है कि सरकार प्राइस-वार का समर्थन करती है। सार्वजनिक क्षेत्र की तेल विपणन कम्पनियाँ इसके चलते सबसे ज्यादा नुकसान में रहेंगी। मेसर्स रिलायंस और एस्सार जैसी दैत्याकार देशी-विदेशी कम्पनियों के पास सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के मुकाबले अत्याधुनिक, उच्च क्षमता वाले तेल शोधक कारखानें हैं, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को इन निजी रिफाइनरियों के स्तर तक अपनी प्रौद्योगिकी को बढ़ाने और आधुनिक बनाने की इजाजत ही नहीं दी गयी है। साथ ही, निजी कॉरपोरेट्स को कर-माफी में छूट और भी अनेकों रियायतें देने के लिए सरकार पलक-पाँवड़े बिछाये खड़ी हैं।

सरकार की 'प्राइस-बार' का सिद्धान्त कुछ इसी तरह का है जैसा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दौर में था। प्राइस-वार ने पहले तो घरेलू बाजार को ध्वस्त कर दिया और बाद में सारे देश को अपनी गिरफ्त में ले लिया।

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम

महँगाई के विरोध में 5 जुलाई को विपक्षी दलों द्वारा 'भारत बन्द' का कार्यक्रम आयोजित किया गया। अगले दिन समाचार पत्रों में 'भारत बन्द' की खबरों के साथ इस बात को खूब प्रचारित किया गया कि बन्द के चलते आम जनता को कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ा। फिक्की और एसोचेम, जैसी पूँजीपतियों की संस्थाओं ने तो यहाँ तक कह दिया कि इस बन्द के कारण अर्थव्यवस्था को 13 हजार करोड़ रुपये का नुकसान उठाना पड़ा। यह एक सफेद झूठ है, क्योंकी बन्द का असर शत-प्रतिशत नहीं था, कृषि क्षेत्र, अनौपचारिक क्षेत्र और स्वरोजगार इससे बाहर थे तथा बन्द सिर्फ 12 घण्टे का था। बन्द के चलते यदि पूरे देश का उत्पादन 24 घण्टों के लिए एकदम ठप्प हो जाता, तब भी रोजआना नुकसान का यह औसत भी मनगढ़ंत ही ठहरेगा।

महँगाई से त्रस्त जनता के प्रति सरकार और उसके जरखरीद पत्रकार कितने निष्ठुर हैं, यह इस बात की ताजा मिशाल है। उन्हें इस बात से कोई लेना देना नहीं कि देश के 80 करोड़ लोग जो 20 रुपये रोज पर गुजारा कर रहे हैं और ऊपर से जरूरी चीजों की बेलगाम कीमतों का असहाय बोझ। इस बोझ को कम करना तो दूर, उल्टे सरकार उनसे और सहनशील होने की माँग कर रही है।

सार्वजनिक क्षेत्र की तेल कम्पनियों को तहस-नहस कर देशी-विदेशी निजी पूँजी के लिए शोषण की खुली छूट देकर सरकार ने एक बार फिर यह साबित किया है कि वह पूँजीपतियों द्वारा पूँजीपतियों के लिए, पूँजीपतियों की सरकार है। ❑

रामधारी सिंह दिनकर की जन्म शताब्दी पर

दिनकर की कविताओं में देशभक्ति और जनपक्षधाता

❑अनिल राय

साहित्यकार अपने समय और समाज का अत्यन्त संवेदनशील साक्षी और स्रष्टा होता है। वह अपने साहित्य में परिवेशगत यथार्थ से निरपेक्ष हो ही नहीं सकता। दिनकर एक ऐसे ही साहित्यकार थे। युगीन परिस्थितियों की प्रतिध्वनि उनके साहित्य में साफ-साफ सुनी जा सकती है। दिनकर के लिए उनका युग केवल स्वदेश तक ही सीमित नहीं, बल्कि उसका एक व्यापक अन्तरराष्ट्रीय विस्तार भी है। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों, आन्दोलनों, समस्याओं और संकटों को दिनकर के काव्य-संसार में न केवल उपस्थित देखा जा सकता है, बल्कि उनके प्रति एक स्पष्ट वैचारिक अवस्थिति का भी अनुभव किया जा सकता है। एक नये बनते समाज और संस्कृति में, बौद्धिक-वैज्ञानिक पर्यावरण, में वैश्विक राजनीतिक घटना-क्रमों में दिनकर की कवि-दृष्टि बराबर हस्तक्षेप करती हुई दिखती है। मनुष्य का जीवन उनकी चिन्ता के केन्द्र में है, इसलिए जहाँ कहीं भी वह संकटग्रस्त प्रतीत होता है, दिनकर की रचनाशीलता वहाँ सक्रिय हो उठती है। दिनकर का यही दायित्व-बोध उन्हें जनता के सरोकारों से जुड़े हुए एक बड़े कवि के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

दिनकर स्वाधीनता-संघर्ष के दौर के कवि हैं। विदेशी पराधीनता से मुक्ति के लिए चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों ने देश में सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष की जो प्रभावकारी चेतना का सघन वातावरण निर्मित किया था, उससे निरपेक्ष रहकर न जीवन सम्भव था और न ही साहित्य। हर संवेदनशील व्यक्ति की यह नियति थी कि वह इससे सम्बद्ध होकर ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकता था। दिनकर को अपने सामाजिक-राजनीतिक परिवेश से तो यह प्रेरणा प्राप्त ही हुई अपने साहित्यिक-सांस्कृतिक वातावरण से भी उन्होंने शक्ति ग्रहण की। दिनकर के पूर्व राष्ट्रीय चेतना की इस अभिव्यक्ति की एक सशक्त परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु और उनके काल के साहित्य से हो चुका था। बाद में मैथलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, जयशंकर प्रसाद, सूर्य कान्त त्रिपाठी निराला आदि की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना अभिव्यक्त हो रही थी। कहीं उसका स्वर अत्यन्त प्रखर था तो कहीं मन्द-रव। इन सबकी मिश्रित परिस्थितियों ने राष्ट्रीय प्रश्नों और भावनाओं के रेखांकन का एक प्रगाढ़ साहित्य-वातावरण बनाया था, दिनकर भला उससे निरपेक्ष कैसे रह सकते थे।

दिनकर के सन्दर्भ में यह अतिरंजनापूर्ण नहीं है कि उनकी कविताओं में अपने समय की राष्ट्र-वाणी की सबसे प्रभावशाली अभिव्यक्ति सम्भव हुई है। इतना पौरुष, इतनी उर्जा, इतना प्रबल उद्घोष अन्यत्र नहीं। स्वाधीनता-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में यह राष्ट्रीय चेतना दिनकर के काव्य संसार में व्यक्त तो हुई ही है, स्वातंत्र्योत्तर भरतीय सन्दर्भों के साथ भी यह सामने आती रही है। दिनकर की राष्ट्रीयता केवल विदेशी राज-सत्ता के सापेक्ष ही आकार ग्रहण करती हो, ऐसी बात नहीं है, यह देशी शासक वर्ग के सापेक्ष भी व्यक्त होती है। दिनकर की दृष्टि में राष्ट्र का अर्थ शासकीय व्यवस्था अथवा राजसत्ता की भूमिकाओं से सम्बद्ध है और वह अन्ततः देश की जनता के पक्ष में अपना चरित्र निर्मित करता है। इसलिए उनकी राष्ट्रीय चेतना जहाँ उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी शक्तियों की दुरभिसन्धियों के समग्र उच्छेदन और स्वराज संघर्ष के लिए जनता के आह्वान का कार्यभार पूरा करती प्रत्यक्ष हुई है, वहीं आजाद भारत के शासकों के जन-उत्पीड़नकारी चरित्र को प्रश्नांकित करने और एक नये जन-संग्राम की सम्भावनाओं के रेखांकन में भी व्यक्त हुई है। यह दिनकर की राष्ट्रीयता की वह विशिष्टता है जो दूसरे कवियों से उन्हें पृथक करती है।

दिनकर की कविताओं में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का पूर्ववर्ती स्वरूप उपनिवेशवाद विरोधी चेतना से निर्मित हुआ है। 'हुंकार' की कविताएँ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध हैं। यह वह दौर है जिसमें भारतीय जन-मानस विदेशी दासता की बेड़ियों से मुक्ति के लिए बेचैन था। एक पूरा सामाजिक-राजनीतिक वातावरण यहाँ दिनकर की चेतना को गहराई से प्रेरित-प्रभावित करता उनके रचना-परिप्रेक्ष्य में मौजूद है। एक कविता में दिनकर कहते हैं

''रस्सों-से कसे जवान पाप-प्रतिकार न जब कर पाते हैं
बहनों की लुटती लाज देखकर काँप-काँप रह जाते हैं
शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बहाते हैं
पी अपमानों के गरल-घूँट शासित जब होंठ चबाते हैं
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्म लगन।''

दिनकर अपने समय के इस सबसे बड़े प्रश्न को, स्वाधीनता के प्रश्न को अत्यन्त गहरी सम्पृक्ति के साथ बार-बार रूपायित करते रहने वाले कवि हैं। आन्दोलनरत भारतीय जनता के पक्षधर कवि के रूप में उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ विभिन्न रूपों में व्यक्त होकर पाठकों-श्रोताओं को आकृष्ट करती रही हैं। उनकी दृष्टि जन-चेतना पर एकाग्र है। जनता की परिस्थितियों का आकलन करते हुए, कठोर दमन और उत्पीड़न की दशाओं में उसके तीव्र प्रतिकार के लिए दिनकर धर्म और शान्ति जैसी अवधारणाओं की एक नयी परिभाषा रचते हैं। दिनकर की दृष्टि में यह एकदम स्पष्ट है कि जब जनता के शान्तिपूर्ण और अहिंसक विरोध-प्रदर्शनों को भी शासक वर्ग स्वीकार नहीं कर पा रहा है और वह जनता का उत्पीड़न कर रहा है, तो फिर जनता को भी इन नयी परिस्थितियों में अपनी धारणाओं-नीतियों पर पुनर्विचार करना चाहिए। दिनकर का कहना है

''घातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है,
शोषण की शृंखला के हेतु बनती जो शान्ति
युद्ध है, यथार्थ में वो भीषण अशान्ति है,
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रान्ति है,
पातक मनुष्य का है मरण मनुष्यता का
ऐसी शृंखला में धर्म विप्लव है, क्रान्ति है।''

दिनकर अपने समय के स्वाधीनता संघर्ष की कार्य प्रणालियों के अन्तर को स्पष्ट रूप से देख और अनुभव कर रहे थे। कांग्रेस में भी नरम और गरम का यह अन्तर साफ-साफ नजर आने वाला था। क्रान्तिकारी संघर्ष की भी एक पूरी धारा मौजूद थी। दिनकर के लिए आजादी का साध्य अधिक महत्त्वपूर्ण था, उन्हें साधन की उतनी चिन्ता नहीं थी। साधन अथवा संघर्ष की पद्धति हिंसा के मार्ग का अनुसरण करती हो, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं। बल्कि, वे इसे एक अपरिहार्य विकल्प के रूप में प्रस्तावित भी करते दिखते हैं

''किसने कहा, पाप है समुचित
स्वत्व-प्राप्ति हित लड़ना,
उठा न्याय का खड्ग समर में
अभय मारना मरना?''

इन प्रश्नों पर विमर्श केन्द्रित करना दिनकर की राष्ट्रीयता का एक अनिवार्य सन्दर्भ है। वे केवल राष्ट्र-राष्ट्र, स्वाधीनता-स्वाधीनता की रट लगाते रहने वाले कवि नहीं हैं। उनकी राष्ट्रीय चेतना आकांक्षा से लेकर उसकी चरितार्थता तक की यात्रा के प्रत्येक चरण को अपने विचार में उपस्थित करती है। राष्ट्रीयता केवल स्वप्न में नहीं, संघर्ष की क्रिया-पद्धति और उसकी व्यापक वैचारिकी में उपस्थित होती है। इसलिए दिनकर इन प्रश्नों पर ज्यादा केन्द्रित होते दिखते हैं। शान्तिपूर्ण उपदेशात्मक वक्तव्यों की सार्थकता को अस्वीकारते हुए दिनकर एक आक्रामक क्रान्तिकारी रास्ते की ओर ध्यान खींचते हैं

''रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर फिरा हमें गाण्डीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।''

एक अन्य जगह वे फिर कहते हैं

''छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।''

राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा में दिनकर की कवि-दृष्टि बराबर देशवासियों पर टिकी हुई है। वे जानते हैं कि जन-शक्ति की निरन्तर क्रियाशीलता से ही यह आकांक्षा पूरी हो सकती है। इतिहास के उन काल-खण्डों में दिनकर चिन्तित हो उठते हैं, जब उन्हें लगता है कि आन्दोलन में शैथिल्य उत्पन्न हो रहा है, या जनता भय और आशंकाओं में निष्क्रिय पड़ती जा रही है। इस मनोदशा में वे अपनी भावनाओं को कुछ इस प्रकार से व्यक्त करने लगते हैं

''दाता पुकार मेरी संदीप्त को जिला दे,
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
तम-बेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ।
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।
उन्माद, बेकली का उत्थान माँगता हूँ।
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।''

दिनकर की राष्ट्रीयता जनता की राष्ट्रीयता है। इसीलिए वह स्वातन्त्रोत्तर भारत की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों में भी उनकी चेतना में क्रियाशील है। राजनीतिक स्वाधीनता के साथ जनता की मुक्ति के प्रश्न दिनकर के लिए निरस्त नहीं हो गये, बल्कि ज्यादा गहरी पीड़ा के साथ उनकी कविताओं में व्यक्त होते रहे हैं। यह मोहभंग का स्वर है। अपनी देशी राज-सत्ता के प्रति मोहभंग का स्वर। लेकिन यह व्यथा-कथा सुनाने अथवा विलाप करने वाला स्वर नहीं। यह एक नयी क्रान्ति का जन-स्वर

है जिसे दिनकर की कविताओं में स्पष्ट सुना जा सकता है

''दो राह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।''

यह वह समय है जब दिनकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'समर शेष है।' इसी शीर्षक से उनकी एक कविता है, जिसमें दिल्ली को जन-विरोधी शोषक-शासक सत्ता तंत्र के रूप में प्रश्नांकित किया गया है

''सकल देश में हलाहल है, दिल्ली में हाला है,
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अंधियाला है।
मखमल के पर्दों से बाहर, फूलों के उस पार,
ज्यों का त्यों खड़ा है आज भी मरघट का संसार।
सात वर्ष हो गये राह में अटका कहाँ स्वराज?''

यह स्वराज कहीं खो गया है। जिस स्वराज के सपने देखे गये थे, वह आ नहीं पाया। इसीलिए, दिनकर कहते हैं कि समर शेष है, आजादी का युद्ध अभी लड़ा जाना है। वे देश के शासकों को बता देना चाहते हैं कि आजादी का यह युद्ध केवल बाहरी शासकों से ही नहीं, बल्कि यह भीतरी शासकों से भी लड़ा जाना है। इस देश की जनता का आक्रोश जब फूटेगा, तो यह व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। दिनकर कहते हैं

''जा कहो, पुण्य यदि बढ़ा नहीं शासन में,
या आग सुलगती रही प्रजा के मन में,
तामस बढ़ता यदि गया ढकेल प्रजा को,
निर्मल पंथ यदि मिला नहीं प्रतिभा को,
रिपु नहीं, यही अन्याय हमें मारेगा,
अपने घर में ही फिर स्वदेश हारेगा।''

दिनकर की कविताओं में व्यक्त राष्ट्रीयता का चरित्र जन-पक्षधर है। राज-सत्ता का प्रतिपक्ष इनकी राष्ट्रीयता का मूल चरित्र है। यह राज-सत्ता चाहे विदेशी हो या देशी। यह साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी शोषण-तन्त्र के भी विरुद्ध है और अपने राष्ट्रीय पूँजीवादी-सामन्तवादी शोषण-तन्त्र के विरुद्ध भी। दिनकर की इस राष्ट्रीयता का महत्त्व आज के सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में तो और भी ज्यादा प्रासंगिक अनुभव किया जा सकता है। ❑

गिरीश तिवारी 'गिर्दा' को श्रद्धांजलि

मौन हो गया जनकवि

❑नवीन जोशी

23 अगस्त 2010 को नैनीताल में गिरीश तिवारी 'गिर्दा' की शव यात्रा में शामिल सैकड़ों लोग उन्हीं के रचे-गाए गीत गा रहे थे और रो रहे थे। महिलाएँ भी अर्थी को कन्धा देने आगे आयीं, तो यह प्रमाण था कि उत्तराखण्ड का यह जनकवि, नाटककार, नाट्य-निर्देशक, गायक, संगीतकार और आन्दोलनकारी अपने समाज में कितना गहरे पैठा और समादृत था। ये वही धुनें और गीत थे, जिन्हें गा-बजा कर गिर्दा ने विभिन्न अंचलों में भी जुलूसों-प्रदर्शनों-धरनों में जनता की आवाज को तीखे सांस्कृतिक तेवर दिये थे।

'गिर्दा' बनने से पहले गिरीश तिवारी अपनी युवावस्था में 'दर्द व टीस प्रधान' गीत व गजलें लिखा करते थे। लेकिन पूरनपुर (पीलीभीत) और लखनऊ में छोटी-मोटी नौकरी करते हुए एक तो वे अपने समाज के दुख-दर्दों को बिल्कुल नहीं भूले और दूसरे, फैज और साहिर की शायरी उन्हें रूमानियत से कठोर यथार्थ की ओर ले जाती रही। बाद में गीत एवं नाट्य प्रभाग की नौकरी उन्हें पहाड़ लौटा ले गयी, जहाँ वे अंचल-अंचल घूमकर लोकगीत-संगीत, विविध लोक शैलियों, बोलियों का गहन अध्ययन-मनन कर सके। गुमानी, गौर्दा, गोपीदास, चारुचन्द्र पाण्डे, तारादत्त सती, मोहन उप्रेती, लेनिन पंत, हरदा सूरदास और बृजेन्द्र लाल साह की विरासत को उन्होंने नये शिखर पर पहुँचाया। यह उनकी विश्लेषणात्मक-आलोचनात्मक प्रतिभा का ही कौशल रहा कि इस **लोकथापी** की व्यापक अपील का उपयोग वे अपने लेखन और सम्बोधन में प्रभावशाली ढंग से कर सके।

देश-दुनिया की स्थितियों के प्रति बेचैनी, हालात को बदलने के लिये यथासम्भव हस्तक्षेप करना और हमेशा की दूसरी बड़ी खूबी थी। वे निराश-हताश होकर बैठे रहने वालों में न थे। 27 नवंबर, 1977 की रात अगले दिन नैनीताल में होने वाली वनों की नीलामी को रोकने का जतन सोचने के लिए गिर्दा चंद युवकों के साथ छात्रावास में बैठे थे। किसी

को कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। 1926 में गौरी दत्त पाण्डे 'गौर्दा' द्वारा लिखे गए कुमाउँनी गीत 'वृक्षन को विलाप' का नये सन्दर्भों में रूपान्तरण करने का विचार तभी गिर्दा को सूझा। उसी रात जन्मी थी यह रचना 'आज हिमाल तुमन कैं धत्यूंछो, जागो-जागो हो मेरा लाल। नी करी दी हालो हमरी निलामी, नी करी दी हालो हमरो हलाल।' (आज हिमालय तुम्हें पुकार रहा है, जागो-जोगो, ओ मेरे लाल, मत होने दो हमारी नीलामी, मत होने दो हमारा हलाल) इस गीत ने न केवल अगले दिन नीलामी रुकवा दी, बल्कि 'चिपको आन्दोलन' और बाद में अन्य जन आंदोलनों को जिस तरह नयी ताकत दी, वह बहुचर्चित है। तब से इस गीत के बिना उत्तराखण्ड में जनता का कोई आन्दोलन और आयोजन शायद ही सम्पन्न हुआ हो। यह एक नये जनकवि का उदय था, जिसका चरमोत्कर्ष 1994 के उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन में जबर्दस्त आतंक और दमन के बीच भी 53 दिनों तक रोज रचे और गाये गये एक-एक छंद के रूप में हुआ जो उत्तराखण्ड काव्य के रूप में खूब चर्चित रहा।

गिर्दा ने नाटक (नगाड़े खामोश हैं, धनुष यज्ञ) लिखे नाटकों का निर्देशन (अंधेर नगरी, अंधायुग, थैंक्यू मिस्टर ग्लाड, आदि) किया, उन्हें संगीत-गीत और नयी मंच सज्जा दी, लोक कथाओं व कविताओं को नुक्कड़ नाटकों के रूप में पेश किया (राजा के सींग, रामसिंह, आए चुनाव-गए चुनाव, आदि) फैज और साहिर की अपनी प्रिय रचनाओं को सरल हिन्दी और कुमाऊँनी में अनूदित कर उनकी बंदिशें बनायी। (हम मेहनतकश जगवालों से..., क्यों मेरा दिल शाह नहीं है, देखेंगे हम भी देखेंगे..., कौन आजाद हुआ, वगैरह) वे जितना अपनी व्यवस्था विरोधी काव्य धारा (ये उलटबाँसियाँ नहीं कबीरा, खालिस चाल सियासी और आओ खेलें कट्टम-कट्टा) के लिए जाने गये, उससे कहीं कम सौन्दर्य बोध के लिए नहीं सराहे गये (पार पछ्यूँ धारा बटी..., हुलरी ऐ गे वसंत की परी..., ओ हो रे द दिगौ लाली..., आदि)। अपने प्रतिरोधी काव्य में वे क्रांतिकारी की पाँत में बैठे दिखायी देते हैं। (उत्तराखण्ड काव्य, जागो-जागो हो मेरा लाल..., आदि) उत्तरकाशी जिले में भागीरथी में भूस्खलन से विशाल झील बनने और उसके टूटने से मची तबाही हो या तवाघाट की विनाशलीला या पंतनगर का गोलीकाण्ड, वे जान जोखिम में डालकर आँखों देखी रिपोर्ट लाने में पत्रकारों के कान काटते रहे ('नैनीताल समाचार' में छपे रिपोर्ताज)। लिखित शब्द के सामर्थ्य को ही पर्याप्त न मानकर वे साथ ही कविता और गीतों के कैसेट भी बनाने के लिए बच्चों जैसे उत्साह से जुटे रहे ('जागर' पुस्तिकाएँ और कैसेट)।

उनकी छटपटाहट देखकर लगता था कि अभिव्यक्ति की एक-दो विधाएँ उन्हें सम्प्रेषण के लिए पर्याप्त नहीं लगती थीं। इसलिए वे एक साथ कई विधाओं में, कई आयामों में मुखर होना चाहते थे। हाथों के इशारों, आँखो के भावों और चेहरे की भंगिमाओं और बीच-बीच में मौन से भी बहुत कुछ अभिव्यक्त करते रहते थे। फिर भी जैसे कुछ बाकी रह जाता था।

वे बड़े सपने देखने वाले विश्वदृष्टि के कवि थे और अत्यन्त सहज, सरल और सुलभ। उनके सर्वाधिक लोकप्रिय गीतों में से एक है 'जैंता, एक दिन तो आलो उ दिन यो दुनी में...' जिसके अंत में वे कहते हैं 'उस दिन हम नहीं होंगे, लेकिन हमारा होना उसी दिन सार्थक होगा।' ❑

(***हिन्दुस्तान*** दैनिक से साभार)

गिर्दा का एक अत्यन्त लोकप्रिय कुमाउँनी गीत

जैंता एक दिन तो आलो

ततुक नी लगा उदेख
घुनन मुनई नि टेक
जैंता एक दिन तो आलो ऊ दिन यो दुनी में

चाहे हम नी ल्यै सकाँ
चाहे तुम नी ल्यै सकाँ
मगर क्वे तो ल्यालो ऊ दिन यो दुनी में

जैदिन कठुलि रात ब्यालि
कौ कड़ाहा पौ फटाली
जैंता एक दिन तो आलो ऊ दिन यो दुनी में

जै दिन नान-ठुलो नि रौलो
जै दिन त्योर-म्योर नि होली
जैंता एक दिन तो आलो ऊ दिन यो दुनी में

जै दिन चोर नि फलौल
कैक जोर नि चलौल
जैंता एक दिन तो आलो ऊ दिन यो दुनी में

चाहे बोज्यू नि ल्यै सको
चाहे दाज्यू नि लै सको
मगर नान-तिन तो लालो ऊ दिन यो दुनी में

साम्राज्यवाद और युद्ध

❑फिदेल कास्त्रो

(पिछली आधी शताब्दी से अमरीकी साम्राज्यवाद का दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध कर रहे फिदेल कास्त्रो ने अपनी यह टिप्पणी गाजा पट्टी में घेराबन्दी के शिकार फिलिस्तीनी जनता के लिए राहत सामग्री ले जा रहे विभिन्न राष्ट्रों के मानवतावादी कार्यकर्त्ताओं के जहाज पर इजराइल द्वारा समुद्री डाकुओं जैसी बर्बर कार्रवाई के अगले ही दिन लिखी थी। अमरीकी राष्ट्रपति ओबामा की मौजूदा पैंतरेबाजी को समझने में इनकी ये बेबाक टिप्पणी काफी सहायक है।)

दो दिन पहले मैंने थोड़े शब्दों में बताया था कि नशीले पदार्थों का व्यसन, जो अत्यन्त गम्भीर समस्या है और पूरी दूनिया की जनता के लिए तबाही का कारण बन गया है, उसे हल करने में साम्राज्यवाद असमर्थ है। आज मैं एक अन्य मुद्दे पर विचार-विर्मश करना चाहता हूँ जो मेरी राय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

उत्तरी कोरिया पर अमरीकी हमलों का जो खतरा उत्तरी कोरिया के समुद्री सीमा की ताजा घटना के बाद पैदा हुआ है, उसे विफल किया जा सकता है यदि चीनी जनगणराज्य के प्रधानमन्त्री संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में चल रही मौजूदा बहस में वीटो के प्रयोग का निर्णय ले लें। हालाँकि यह एक ऐसा विशेषाधिकार है जिसका प्रयोग करना चीन को बिलकुल ही पसन्द नहीं।

लेकिन एक दूसरी समस्या भी है जो कहीं अधिक गम्भीर है और जिसके लिए सम्भवतः अमरीका के पास कोई जवाब नहीं है ईरान के साथ टकराव पैदा करना। काहिरा स्थित अल-अजहर इस्लामी युनिवर्सिटी में 4 जून 2009 को जब राष्ट्रपति बराक ओबामा ने भाषण दिया था तभी से यह टकराव साफ तौर पर दिखने लगा था। उस भाषण के सिर्फ चार दिन बाद जब उनके भाषण की एक आधिकारिक प्रति मुझे मिल गयी, मैंने उस पर एक टिप्पणी लिखी थी उस भाषण के महत्त्व का विश्लेषण करने के लिए उसके कई हिस्सों का मैंने प्रयोग किया था जिनमें से कुछ का यहाँ हवाला देना चाहूँगा।

> ''हम एक ऐसे समय में यहाँ मिल रहे हैं जब अमरीका और पूरी दुनिया के मुसलमानों के बीच भारी तनाव मौजूद है...''
>
> ''...उपनिवेशवाद ने ढेर-सारे मुसलमानों को उनके अधिकारों और अवसरों से वंचित किया तथा शीतयुद्ध के दौरान मुस्लिम बहुल देशों के साथ उनकी अपनी आकांक्षाओं का सम्मान किये बगैर अक्सर छद्म व्यवहार किया गया।''

यह तर्क और उनके ऐसे ही अन्य तर्क भी बेहद प्रभावशाली लग रहे थे क्योंकि वे उस अमरीकी राष्ट्रपति के मुँह से निकले थे, जो एक अफ्रीकी अमरीकी है। इसमें 4 जुलाई 1776 के फिलाडेल्फिया घोषणा पत्र में निहित स्वयंसिद्ध सच्चाइयों की अनुगूँज सुनाई दे रही थी।

> ''मैं अमरीका और पूरी दुनिया के मुसलमानों के बीच आपसी हितों और आपसी सम्मान पर आधारित एक नयी शुरूआत की तलाश में काहिरा आया हूँ..''
>
> ''जैसा कि पवित्र कुरान कहता है, 'खुदा के प्रति सचेत रहो और हमेशा सच बोलो,।''
>
> ''और जहाँ कहीं भी इस्लाम की नकारात्मक रूढ़ियाँ प्रकट, हों उनके खिलाफ लड़ना मैं अमरीकी राष्ट्रपति के रूप में अपनी जिम्मेदारी का हिस्सा मानता हूँ।''

इस तरह, उन्होंने अमरीकी नीतियों को समाविष्ट करने वाले असमाधेय अन्तरविरोधों और तमाम पेचीदा मुद्दों का जिक्र करना जारी रखा।

> ''अमरीका ने शीत युद्ध के दौरान लोकतान्त्रिक तरीके से चुनी हुई ईरानी सरकार की सत्ता पलटने में भूमिका निभायी थी।''
>
> ''इजराइल के साथ अमरीका के मजबूत सम्बन्धों के बारे में सबको पता है। यह सम्बन्ध अटूट है।''
>
> ''ढेर सारे लोग वेस्ट बैंक के शरणार्थी शिविरों और आस-पास के इलाकों में शान्ति और सुरक्षा भरी जिन्दगी का इन्तजार कर रहे हैं, जो उन्हें कभी मयस्सर नहीं हुई।''

आज हमें पता है कि गाजा पट्टी की जनता के ऊपर एकदम नाजी फासीवादी उन्माद के साथ सफेद फॉसफोरस और दूसरे अमानुषिक और घातक पदार्थ बरसाये जाते हैं। फिर भी ओबामा दुनिया भर में उत्तेजनापूर्ण दौड़भाग के दौरान अपने 'अमरीकी वायुसेना-एक' विमान से जहाँ कहीं भी उतरते हैं और अपने जोरदार वक्तव्यों को बार-बार दुहराते हैं तो वे जीवन्त और कभी-कभी गम्भीर भी प्रतीत होते हैं।

कल, 31 मई को अन्तरराष्ट्रीय समुदाय हतप्रभ रह गया जब अन्तरराष्ट्रीय समुद्री क्षेत्र में गाजा पट्टी से 10 मील दूर इजराइल के लगभग सौ छतरी-सैनिक हेलीकॉप्टर से कूदे और थोड़ी ही देर में विभिन्न राष्ट्रों के सैकड़ों शान्तिप्रिय लोगों पर अन्धाधुन्ध गोलीबारी शुरू कर दी। खबरों के अनुसार उन्होंने कम से कम 20 लोगों को मार डाला और बहुतों को घायल कर दिया। जिन लोगों पर हमला किया गया उनमें अमरीकी भी थे। वे उन फिलिस्तीनी नागरिकों के लिए राहत सामग्री लेकर जा रहे थे जिन्हें अपने ही वतन में घेराबन्दी का शिकार बना दिया गया है।

जब ओबामा अल-अजहर के इस्लामी युनिवर्सिटी में ''लोकतान्त्रिक तरीके से चुनी गयी ईरानी सरकार की सत्ता पलट'' पर बात कर रहे थे और तत्काल यह भी जोड़ दिया था कि ''इस्लामी क्रान्ति के बाद से ही ईरान ने अमरीकी सैनिकों और नागरिकों के खिलाफ अपहरण और हत्या की कार्रवाइयों में अपनी भूमिका निभाई है...'' तो वे अयातुल्ला रुहेल्ला खोमैनी द्वारा प्रोत्साहित क्रान्तिकारी आन्दोलन की बात कर रहे थे, जिन्होंने पेरिस में रहते हुए, बिना हथियार के दक्षिण एशिया में अत्यन्न शक्तिशाली अमरीकी सशस्त्र सेना को कुचल दिया था। दुनिया की सर्वशक्तिशाली सत्ता अमरीका के लिए सोवियत संघ के दक्षिण में अपना सैनिक अड्डा स्थापित करने की लालसा को दबाना काफी कठिन हो गया था।

इससे पाँच दशक से भी अधिक समय पहले अमरीका ने एक दूसरी अत्यन्त लोकतान्त्रिक क्रान्ति का दमन किया था, जब उसने मोहम्मद मोसद्क के नेतृत्व वाली ईरानी सरकार का तख्तापलट किया था। वे 24 अप्रैल 1951 को ईरान के प्रधानमन्त्री निर्वाचित हुए थे। उसी साल 1 मई को वहाँ की संसद ने तेल के राष्ट्रीयकरण की संस्तुति की थी जो उनके संघर्ष की प्रमुख माँग रही थी। उन्होंने कहा था ''अब तक, बाहरी देशों से एक साल से चल रही वार्ताएँ असफल साबित हुई हैं।''

उनका स्पष्ट आशय बड़ी पूँजीवादी शक्तियों से था जो विश्व अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करते थे। उन दिनों ब्रिटिश पेट्रोलियम को एंग्लो-इरानियन ऑयल कम्पनी के नाम से जाना जाता था। उसकी हठधर्मी राय थी कि ईरान ने उसकी सहूलियतें जब्त कर ली हैं।

ईरान अपने तकनीशियनों को प्रशिक्षण देने में असमर्थ हो गया था। इंग्लैण्ड ने अपने कुशल कर्मियों को वहाँ से वापस बुला लिया था तथा कल-पुर्जों और बाजार पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उसने ईरान के खिलाफ कार्रवाई के लिए वहाँ रॉयल नेवी भी तैनात कर दी थी। परिणाम स्वरूप, ईरान का तेल उत्पादन 1952 में 24.14 करोड़ बैरल से गिर कर 1953 में 1.06 करोड़ बैरल रह गया। इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए सी.आई.ए. ने तख्ता पलट का षड्यन्त्र किया जिसके चलते मुसद्दक सत्ता से हटा दिये गये और तीन साल बाद उनकी मृत्यु हो गयी। फिर राजतन्त्र को पुनर्स्थापित किया गया और वहाँ अमरीका के एक मजबूत सहयोगी, ईरान के शाह ने सत्ता सँभाली।

यही तो एकमात्र काम है, जो अमरीका दूसरे राष्ट्रों के साथ करता आया है। हमारे इस ग्रह की सबसे समृद्ध जमीन पर अपनी स्थापना के समय से ही अमरीका ने हजारों सालों से वहाँ जीवन बसर करते आ रहे है मूल निवासी जनगण या अंग्रेज उपनिवेशवादियों द्वारा गुलाम के रूप में लाये गये लोगों के अधिकारों की कभी कद्र नहीं की।

इन सबके बावजूद, मुझे भरोसा है कि लाखों बुद्धिमान और ईमानदार अमरीकी इन सच्चाइयों को समझते हैं।

राष्ट्रपति ओबामा सच का गला घोंटने वाले बेमेल अन्तरविरोधों के बीच मेल बिठाने के प्रयास में ऐसे सैकड़ों भाषणा दे सकते हैं या वे नैतिकता से शून्य लोगों या समूहों के साथ रियायत बरतते हुए भी अपने लच्छेदार मुहावरों के जादुई असर का सपना देख सकते हैं। वे ऐसे अनोखे शब्दों का चित्रण कर सकते हैं, क्योंकि वे उनके बेईमान सलाहकारों द्वारा, जिन्हें उनके खास रुझानों की पूरी जानकारी होती है, खास तौर पर उनके दिमाग के अनुरूप गढ़े जाते हैं।

दो सवाल हैं जिन्हें टाला नहीं जा सकता क्या पेण्टागन या इजराइल की सरकार द्वारा, जिसका बर्ताव यह दिखाता है कि वह अमरीकी निर्णयों को भी स्वीकार नहीं करता, अपने नाभिकीय अस्त्रों का ईरान पर इस्तेमाल से पहले ओबामा राष्ट्रपति के रूप में अपनी दूसरी पाली शुरू करने का मजा ले पायेंगे? उसके बाद हमारे ग्रह के जीवन का क्या होगा? ❑

पीपीपी : प्राथमिक शिक्षा के निजीकरण का नया पैंतरा

□संजय शर्मा

पिछले दो दशकों में सरकार ने उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीति पर चलते हुए ढेर सारे सार्वजनिक संस्थानों को औने-पौने दामों में निजी पूँजीपतियों को सौंप दिया है। सरकार उन्हीं के सहयोग से विकास करना चाहती है जो समाज की जगह अपने ही स्वार्थ और मुनाफे को प्राथमिकता देते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क परिवहन हर क्षेत्र में पिछले दरवाजे से निजीकरण को बढ़ावा देने वाली ऐसी योजनाएँ तेजी से लागू की जा रही हैं। सन् 2002 में 86 वाँ संविधान संशोधन करके प्राथमिक शिक्षा को मूल अधिकार में शामिल किया गया और हाल ही में मानव संसाधन विकास मन्त्रालय ने ढोल नगाड़े के साथ इस बात का प्रचार किया कि सरकार सबके लिए प्राथमिक शिक्षा का मुफ्त प्रबन्ध करेगी। लेकिन अब वह अपनी इस जिम्मेदारी से पल्ला झाड़कर इसे निजी क्षेत्र के मुनाफाखोरों को सौंपने जा रही है।

केन्द्र सरकार ने 11वीं पंचवर्षीय योजना में 6000 नये मॉडल स्कूल खोलने की योजना बनायी है, जिसमें 2500 स्कूल पब्लिक-प्राईवेट साझेदारी (पीपीपी) के अन्तर्गत खोले जायेंगे। योजना आयोग के अनुसार ये स्कूल 2014 तक आरम्भ हो जायेंगे। इन स्कूलों का उद्देश्य 65,00,000 छात्रों को शिक्षित करना होगा, जिसमें से 25,00,000 दलित तथा पिछड़े वर्ग से होगें।

प्रत्येक स्कूल में 25000 छात्र होंगे जिसमें से 1000 पिछड़े व दलित वर्ग से होंगे। दलित वर्ग से प्रतिमाह 25 रुपये प्रति छात्र तथा पिछड़े वर्ग से 50 रुपये प्रति छात्र फीस ली जायगी। बाकी खर्च जो 1000 से 1200 रुपये प्रति छात्र होगा, केन्द्र सरकार वहन करेगी। एक अनुमान के अनुसार सरकार को 2017 तक 10500 करोड़ रुपये खर्च करने होंगे। यह खर्च मूल्यवृद्धि के साथ बढ़ भी सकता है। स्कूल के बाकी 1500 छात्रों से प्रबन्धकों को मनमानी फीस वसूल करने की आजादी होगी! इस योजना के अन्तर्गत स्कूल स्थापित करने के इच्छुक औद्योगिक घरानों को, जिन्हें स्कूल चलाने का अनुभव हो, प्रथम स्कूल स्थापित करने के लिए 50,00,000 रुपये जमा करने होंगे। तथा प्रत्येक अतिरिक्त स्कूल के लिए 25,00,000 रुपये जमा करने होंगे। एक संस्था को अधिकतम 25 स्कूल स्थापित करने की इजाजत होगी। इन स्कूलों में पब्लिक स्कूलों जैसी सुविधाएँ होंगी।

महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सरकार इस योजना के अन्तर्गत सरकारी खजाने से पैसा तथा संसाधन निजी हाथों में सौंपने की तैयारी कर रही है, लेकिन इन स्कूलों पर सरकार का नियन्त्रण नाम-मात्र का ही होगा। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उक्त योजना में स्कूल प्रबन्धन को स्कूल चलाने और फीस वसूलने के मामले में असीमित स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

इस योजना के लागू होने पर जनता के पैसों से शिक्षा का निजीकरण तथा व्यवसायीकरण होगा तथा मुफ्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का मूल अधिकार धरा का धरा रह जायेगा। शिक्षा के क्षेत्र में पहले से ही एक दूसरी व्यवस्था प्रयोग में लायी जा रही है जिसके अन्तर्गत कोई भी संस्था या संगठन जनता के सहयोग से विद्यालय का आधारभूत ढाँचा तैयार करके स्कूल का संचालन 4 या 5 वर्ष तक करता है। उसके बाद सरकार उस स्कूल को आर्थिक सहायता के रूप में अध्यापक तथा कर्मचारियों का वेतन देती है। इस प्रकार के अर्द्ध-सरकारी विद्यालयों पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता हैं तथा फीस भी सरकारी नियमों के अनुसार ली जाती है। स्थानीय प्रबन्धन समिति केवल आधारभूत ढाँचा और विद्यालय के संचालन की ही व्यवस्था करती है।

अब तक सभी राज्यों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का मुख्य स्रोत ऐसे ही विद्यालय रहे हैं। परन्तु वर्तमान समय में कोई भी राज्य या केन्द्र सरकार इस प्रकार के अर्द्ध-सरकारी मॉडल को बढ़ावा नहीं दे रही है।

केन्द्र सरकार द्वारा प्रस्तावित पी.पी.पी. मॉडल में सरकार या समाज का शिक्षा पर कोई नियन्त्रण नहीं होगा, बल्कि निजी क्षेत्र के संस्थानों को असीमित अधिकार प्राप्त होंगे। वे कम से कम वेतन पर शिक्षकों कर्मचारियों की भर्ती करेंगे और

मनमानी फीस के जरिये भरपूर मुनाफा बटोरेंगे। हम सभी जानते हैं कि कोई भी औद्योगिक घराना ऐसे विद्यालय तब तक स्थापित नहीं करेगा, जब तक उसे अपने पूँजी निवेश पर अच्छा-खासा मुनाफा हासिल न हो। यदि व्यावसायिक कम्पनी शिक्षा के क्षेत्र में पदार्पण करती है तो उनके लिए शिक्षा तथा दूसरे व्यवसाय (जैसे साबुन, टी.वी., कार) में कोई अन्तर नहीं होगा। वे केवल मुनाफे के लिए ही व्यवसाय करेंगे चाहे शिक्षा हो या कोई अन्य व्यवसाय। इस प्रकार हमारी सरकार शिक्षा के क्षेत्र में परोपकार तथा सामाजिक उत्तरदायित्त्व की भावना से प्रेरित संस्थाओं को बढ़ावा देने के स्थान पर सरकारी अनुदान के सहयोग से ऐसे विद्यालयों को स्थापित करने जा रही है जो केवल मुनाफे के लिए शिक्षा का व्यवसाय करने वालों के हाथ में होंगे।

शिक्षा के निजीकरण और उदारीकरण के प्रति जनता के गुस्से और व्यापक विरोध को देखते हुए सरकार की यह नयी चाल है, जिसे खूबसूरत नाम दिया गया है प्राइवेट-पब्लिक पार्टनरशिप, यानी निजी सार्वजनिक साझेदारी। यह निजीकरण का ही एक नया पैंतरा है, और इस निजीकरण में भी सार्वजनिक पैसे का इस्तेमाल किया जायेगा।

पहले भी, रेलवे, सड़क, हवाई अड्डे और अस्पताल बनाने के लिए इसी बहाने सरकार ने निजी पूँजीपतियों की झोली भरने का काम किया। लेकिन एक तरफ प्राथमिक शिक्षा को मुफ्त और अनिवार्य घोषित करना तथा दूसरी ओर सरकारी धन देकर इसे निजी पूँजीपतियों की मुनाफाखोरी के हवाले करना सरकार की निर्लज्जता और पूँजी-परस्ती का ही घृणास्पद नमूना है। ❑

पीपीपी : ग्रामीण स्वास्थ्य और विकास का ठेका लुटेरी कम्पनियों को

❑मुकुल

देश में निजीकरण आँधी नये रूप में और तेज गति से बहने लगी है। निजीकरण का नया फण्डा है पीपीपी, यानी 'पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप' यानी सरकारी-निजी साझेदारी। अब स्वास्थ्य-चिकित्सा जैसी मूलभूत आवश्यकता से लेकर गाँव के विकास तक इसकी चपेट में आ चुके हैं। इस तरह देशी-विदेशी निजी कम्पनियों की लूट अब जीवन के हर क्षेत्र में दखल दे रही है।

उत्तराखण्ड सरकार की नयी योजना के तहत राज्य के दूरस्थ और दुर्गम क्षेत्रों में स्थित अस्पतालों की स्वास्थ्य सेवाएँ अब पीपीपी मोड से संचालित होंगी। यही नहीं, राज्य के 12 औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान (आईटीआई) भी पीपीपी से चलेंगे।

नयी योजना के तहत ही राज्य सरकार निजी कम्पनियों से करार करेगी, जो सरकारी अस्पाल चलायेंगी। पायलेट प्रोजेक्ट के रूप में पहले इस योजना को पहाड़ के कुछ केंद्रों पर शुरू किया जायेगा। बाद में इसके परिणाम को देखते हुए इसे पूरे राज्य में लागू किया जायेगा। योजना के तहत फिलहाल बीपीएल कार्डधारकों को छोड़ कर बाकी मरीजों से फीस ली जायेगी। इस तरह पहले से ही दवा-इलाज से वंचित बदहाल जनता की लूट का एक ओर रास्ता खुलने जा रहा है।

दूसरी तरफ, देश के गाँव का विकास भी अब पीपीपी मोड से ही होने जा रहा है। केन्द्र सरकार की नयी योजना के तहत जनवरी 2011 से टाटा व रिलायंस जैसी कम्पनियाँ जनता का ''पार्टनर'' बन कर उनका ''कल्याण'' करेंगी। मतलब यह कि जिन सामाजिक सेवाओं की जिम्मेदारी अब तक सरकार के ऊपर थी, उसे उसने मुनाफाखोरी के हवाले कर दिया। इस तरह देशी-विदेशी निजी कम्पनियों की लूट के लिए गाँव में भी घुसपैठ का नया रास्ता बन चुका है।

केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय के इस नये फार्मूले के निजी कम्पनियाँ तहत ग्राम पंचायत और सरकार के साथ मिलकर गाँवों का ''कायाकल्प'' करने के लिए बिजली, पानी, सड़क-सीवर निर्माण से लेकर गाँव के आर्थिक विकास तक का कारोबार करेंगी। इसमें एशियन विकास बैंक तकनीकी मदद कर्ज देगा। सरकार इस पायलट परियोजना हेतु वर्ष 2011-12 के लिए 248 करोड़ का बजट भी बना चुकी है।

योजना के तहत निजी कम्पनी ग्राम पंचायत से मिलकर ग्रामीण पर्यटन, कृषी पर्यटन, ग्रामीण मार्केटिंग हब बनाने, कोल्ड स्टोर जैसी योजनाओं के साथ ग्रामीणों के कथित आर्थिक सुधार के लिए नयी योजना चलाने की हकदार होंगी।

25 किलोमीटर के दायरे में 25 से 40 हजार की आबादी वाले क्षेत्र में एक कम्पनी काम करेंगी। इस क्षेत्र विशेष में कम्पनी को 120 करोड़ तक निवेश करने का अधिकार होगा। गौरतलब है कि परियोजना की कुल लागत का 35 प्रतिशत पूँजी केन्द्र सरकार देगी बाकी खर्चा कम्पनियाँ उक्त पंचायत क्षेत्र की जनता से सुविधा शुल्क के रूप में वसूलेंगी। इसका अर्थ यह है कि निजी पूँजीपतियों को ग्रामीण क्षेत्र में अपना धन्धा करने के लिए सरकार उन्हें मुफ्त में धन देगी। परियोजनाओं से लाभ अलग से होगा ही। यह यूँ ही नहीं है कि योजना की घोषणा के साथ ही तमाम कम्पनियों में इसे पाने के लिए होड़ मच गयी है।

तो ये है सार्वजनिक सेवाओं को मुनाफे का जरिया बनाने और जनता को लूटने का नया हथकण्डा। ❑

पीपीपी क्या बला है

क्या खूबसूरत नाम है पीपीपी यानी 'पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप'। आज के दौर में निजीकरण का यह नया फार्मूला है। एक ऐसी जादू की छड़ी, जो जनता का पार्टनर बन विकास के सारे काम कर देगी। सड़क बनाना हो या पुल, रेलवे का काम हो या बिजली का, दवा-इलाज हो या ग्रामीण विकास निजी कम्पनियाँ सरकारी सहयोग से इसी नये नाम से लूट रही हैं। निजीकरण के इस नये स्वरूप में लूटेरी कम्पनियों को सरकारी संरक्षण व आर्थिक सहूलियतें मिलने के साथ ही जनता से पैसा वसूलने का पूरा अधिकार भी रहता है।

जैसे कोई राजमार्ग या पुल बनना है तो पी.पी.पी. के तहत सरकार किसी देशी या विदेशी बड़ी कम्पनी को ठेका देती है, आसनी से गरीबों-किसानों की जमीनें छीन कर उन्हें सैंप देती है, साथ ही भारी सब्सिडी के साथ कर्ज व सहूलियतें भी उपलब्ध कराती है। काम पूरा होने पर कम्पनी टोल टैक्स के रूप में जनता से धन उगाही करने लगती है। इस प्रकार 'पब्लिक' 'प्रइवेट' के इस 'पार्टनरशिप'से सरकार निजी कम्पनियों की भारी कमाई का रास्ता बनाती हैं। पीपीपी का असली मतलब यही है 'पी' यानी सरकार का माल पी, जनता का खून पी, देश की दौलत पी। ❑

बुजुर्गों की देख-रेख के मामले में भारत फिसड्डी

मानव विकास सूचकांक बताता है कि भारत में जीवन तो बदहाल है ही, मौत भी कुछ कम बदतर नहीं है।

आर्थिक सूचना इकाई द्वारा जारी नये मानव विकास सूचकांक ने 40 देशों में वृद्धावस्था में देख-भाल करने वाली सेवाओं का अध्ययन किया, जिसमें 30 विकसित ओर 10 विकासशील देश शामिल थे। इस में इंगलैण्ड वृद्धावस्था में देख-भाल करने वाली सेवाएँ उपलब्ध कराने में पहले स्थान पर है। इस सूची में भारत का स्थान अफ्रीका महाद्वीप के गरीब देश युगाण्डा से भी नीचे, सबसे अन्तिम पायदान पर है।

भारत में बुढ़ापे के रोगों के लिए आवश्यक स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। रोगियों के लिए दर्दनिवारक दवा भी उपलब्ध नहीं होती, जिसके चलते वृद्ध असह्य पीड़ा झेलने को बाध्य हैं।

यहाँ वृद्धों के लिए अलग से निवास स्थान नहीं है जहाँ रहकर वे अपने स्वास्थ्य का ध्यान रख सकें। कुछ लोग वृद्धों की देख-भाल से बचने के लिए उन्हें, घरों से निकाल देते हैं अथवा कुम्भ मेलों में छोड़ आते हैं। इन बेसहारा बुजुर्गो के लिए वृद्धाश्रम बहुत कम हैं और जो हैं भी वे किसी अनाथालय या जेल से कम नहीं हैं। वहाँ इनकी देख-भाल पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। वर्ल्डवाइड पेलियेटिव केयर एलाएन्स के अनुसार दुनिया भर में 10 करोड़ से भी ज्यादा मरीजों और उनके परिवारों को आरामदायक सेवा की आवश्यकता होती है। लेकिन वास्तव में 8 प्रतिशत से भी कम मरीजों को ही ऐसी सेवा मिल पाती है।

जिस देश में बुजर्गों को इज्जत की मौत भी नसीब न हो, उसके शासकों द्वारा महाशक्ति बनने का ख्वाब देखना और दिखाना भोंड़ा मजाक नहीं तो क्या है? ❑

खनन माफिया रेड्डी बन्धु

उदारीकरण की नीतियों ने आजादी के बाद खनिज सम्पदा के एक हद तक नियन्त्रित दोहन की प्रक्रिया को पलट कर इस क्षेत्र को देशी-विदेशी लुटेरों के लिए खुला छोड़ दिया है। तभी से देशभर में सक्रिय खनन माफिया वैध-अवैध तरीकों से खनन करके बेहिसाब कमाई करने लगे हैं। खनन क्षेत्र मौजूदा नग्न पूँजीवाद का कुरूप चेहरा है। इसके जरिये भरपूर मुनाफा लूटना और विरोध करने वाले लोगों का पुलिस-प्रशासन की सहायता से निर्मम दमन करना ही विकास की परिभाषा बना दी गयी है। जब अत्याचार और दमन असहनीय हो जाता है तो लोग इस व्यवस्था के खिलाफ उठ खड़े होने पर मजबूर हो जाते हैं। यही कारण है कि हमारे देश के जिन राज्यों मे सबसे अधिक खनिज सम्पदा है, वहाँ शोषण-दमन की नीतियों के खिलाफ लोगों का संघर्ष दिनोदिन उग्र होता जा रहा है।

अवैध खनन करके भरपूर मुनाफा बटोरने की घटनाएँ पहले भी होती थीं, लेकिन हाल के वर्षों में इस धन्धे ने सभी रिकॉर्ड तोड़ दिये हैं। झारखण्ड के पूर्व मुख्यमंत्री मधुकोड़ा द्वारा कुछ ही वर्षों में हजारों करोड़ की अवैध कमाई की चर्चा सुर्खियों में रही। अभी उनके खिलाफ सी.बी.आई. जाँच चल रही है। हाल में आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड में उग्रवाद के प्रसार का एक प्रमुख कारण खनन और उसके चलते आदिवासियों का विस्थापन तथा दमन उत्पीड़न ही है।

कर्नाटक के खनन माफिया रेड्डी भाईयों का मामला अवैध खनन की वीभत्सता और राजनीति के साथ इसके गँठजोड़ का एक घिनौना उदाहरण है। 1999 के चुनाव में सोनिया गाँधी ने अमेठी के बजाय बेल्लारी संसदीय क्षेत्र से चुनाव लडा, तो रेड्डी भाइयों की राजनीतिक हैसियम अचानक बढ़ गयी। इसके बाद ही वे छोटे-मोटे आर्थिक घोटालेबाज से सीधे खनन माफिया बन गये। हुआ यह कि भाजपा ने सोनिया के विरुद्ध सुषमा स्वराज को चुनाव मैदान में उतारा। रेड्डी भाई सुषमा स्वराज के चुनाव प्रबन्धक बने और उनका विश्वास जीता। एक तरफ सुषमा स्वराज ने रेड्डी भाईयों को राजनीतिक फायदा पहुँचाया तो दूसरी तरफ 2008 के बीजिंग ओलम्पिक में लोहे की खपत बढ़ने से उन्हें एक बड़ा आर्थिक फायदा मिला। जिस वक्त रेड्डी भाईयों ने बढ़-चढ़कर खनन उद्योग में हिस्सा लेना शुरू किया, उसी दौरान बीजिंग से कच्चे लोहे की माँग भी काफी तेजी से बढ़ी।

रेड्डी भाईयों को प्रतिदिन 220 करोड़ रुपये का अविश्वसनीय फायदा अतिरिक्त भरे हुए ट्रकों की वजह से हुआ, जिससे रेड्डी भाईयों की गैरकानूनी सम्पत्ति में बम्पर उछाल आया। इसी के दम पर उन्होंने भारतीय पूँजीवादी राजनीति के पारम्परिक मूल्यों को दर-किनार कर दिया। राजनीतिक पार्टियाँ जातियों के आधार पर चुनाव लड़ती हैं, लेकिन रेड्डी भाईयों ने कर्नाटक में जातीय अल्पमत होने के बावजूद नोट के बदले वोट खरीद लिया। आज कर्नाटक विधान सभा के 60 सदस्य इनके भक्त हैं, जिन्होने भाजपा की वाई.एस. येदुयुरप्पा की सरकार को समर्थन दे रखा है। भाजपा भ्रष्टाचार मिटाने का दावा करती है, लेकिन कर्नाटक में सत्ता हथियाने के लालच में उसने गैर कानूनी खनन को भी जायज ठहराया। अगस्त 2010 में ढाई लाख कार्यकर्ताओं का जूलुस निकालकर गैर कानूनी खनन और भाजपा का विरोध करने वाली काँग्रेस पार्टी भी दरअसल इन गतिविधियों में पीछे नहीं रही है। काँग्रेस पार्टी के दिवंगत नेता वाई.एस. रेड्डी ने भी आन्ध्र प्रदेश में अवैध खनन की खुली छूट दे रखी थी।

इस मिली-भगत से यह बात तो स्पष्ट है कि लोकतन्त्र का ढकोसला और जनता के हित की बात करने वाली राजनीतिक पार्टियाँ दिन-रात जनता के खिलाफ माफियाओं के साथ मिलकर क्या-क्या गुल खिला रही हैं। कर्नाटक में जब पानी सर के ऊपर जाने लगा तो लोकायुक्त सन्तोष हेगड़े यह कहते हुए इस्तीफा दे दिया कि खनन माफियाओं के खिलाफ जाँच और कार्रवाई में राज्य सरकार सहयोग नहीं कर रही है। उन्होंने आगे बताया कि पुलिस द्वारा पकड़े गये 99 ट्रकों में नकली कागजात के जरिये लौह अयस्क अवैध तरीके से बेल्लारी से कारवार बन्दरगाह पर भेजा जा रहा था। वन विभाग के अधिकारी ने आठ लाख टन खनिज जब्त करके भ्रष्टाचार के आरोप में दोषी कम्पनियों के खिलाफ कार्रवाही शुरू कर दी। लेकिन राज्य के वरिष्ठ मन्त्री ने कम्पनियों का पक्ष लेते हुए मामले को रफा-दफा कर दिया।

जनता के विरोध, राजनीतिक दवाब, मीडिया के खुलासे, न्यायालय के निर्देश, बेल्लारी जिले में अवैध खनन पर 2008 में कर्नाटक के लोकायुक्त की रिपोर्ट और सर्वोच्च न्यायालय के ताजा निर्देश के बावजूद कर्नाटक सरकार और केन्द्र सरकार भी अवैध खनन पर रोक लगाने में पूरी तरह असफल

रही। राजनीतिक पार्टियों की पीठ पर आज खनन माफिया सवारी गाँठ रहे हैं। राज्य की सभी प्रमुख पार्टियों को ये माफिया चन्दा देते हैं। उनके पैसों की माया से चुनी हुई सरकार और उस सरकार द्वारा बनाया गया कानून क्या उनकी नाक में नकेल डाल पायेगा? ❑

लूट सके तो लूट

कर्नाटक के लौह अयस्क भण्डारों की लूट कोई मनगढ़न्त किस्सा नहीं है। मुख्यमन्त्री बी.एस. येदुरप्पा ने 10 जुलाई को विधानसभा में दिये गये अपने 21 पृष्ठों के जवाब में बताया था कि पिछले सात सालों में राज्य से 30 करोड़ टन अयस्क का गैरकानूनी निर्यात किया गया। उन्होंने स्वीकार किया कि विभिन्न सत्ताधारी पार्टियों ने अपनी पार्टी के लोगों और अपने रिश्तेदारों को खादान के परमिट जारी किये और अयस्कों के गैरकानूनी निर्यात की खुली छूट दी। काँग्रेस के के. एन. धर्मसिंह के शासनकाल में 33 खदान परमिट जारी किये गये। इसी तरह जनता दल (से.) के एच. डी. कुमार स्वामी की सरकार ने 19, राष्ट्रपति शासन के दौरान 9 और भाजपा सरकार के कार्यकाल में 2 खनन परमिट जारी किये गये।

येदुरप्पा ने बताया कि मैंगलोर, कारवार और कालीकट बन्दरगाह के अलावा 7.6 करोड़ टन अयस्क चेन्नई, मोरमगाँव, कृष्णापत्तनम, काकीनाडा और विशाखापट्नम के बन्दरगाहों से निर्यात किया गया। इसके अलावा अन्य राज्यों के बन्दरगाहों से भी अयस्कों का गैरकानूनी निर्यात किया गया है।

उनके वक्तव्य के अनुसार 2003-04 में 20,49,961 टन, 2004-05 में 52,39,528 टन, 2005-06 में 21,7,1645 टन, 2006-07 में 47,44,645 टन, 2007-08 में 57,61,048 टन, 2008-09 में 33,96,126 टन और 2009-10 में 71,27,937 टन लौह अयस्कों का गैरकानूनी निर्यात किया गया है। 2003 से 2010 के बीच कुल 284.5 लाख टन अयस्क चेन्नई से, 26.4 लाख टन मोरमगाँव से, 117 लाख टन कृष्णापत्तनम से, 81 विशाखापट्नम से निर्यात किया गया।

हैती के भूकम्प में अमरीकी मदद : काटे चाटे श्वान के...

हैती में आये विनाशकारी भूकम्प ने लाखों की जिन्दगी तबाह कर दी। इस आपदा से निपटने के अमरीका ने अपने 10 हजार सैनिक और 550 स्वास्थ्यकर्मियों को वहाँ भेजा दूसरी तरफ, क्यूबा ने, जो अमरीका से बहुत ही छोटा और गरीब देश है, इस आपदा से निपटने के अपने 1504 स्वास्थ्यकर्मियों को हैती भेजा जिन्होनें वहाँ 2,27,143 भूकम्प पीड़ितों को मदद पहुँचायी। इस भूकम्प में क्यूबा ने हैती में एक भी सैनिक नहीं भेजा।

सहायता सम्बन्धी इन आँकड़ों से यह समझ पाना कठिन नहीं है कि हैती की जनता का वास्वतिक मददगार कौन है अमरीका या क्यूबा?

अमरीका ने यह सिद्ध कर दिया कि उसके लिए यह विनाशकारी प्राकृतिक आपदा भी अपने साम्राज्यवादी मंसूबों को पूरा करने का एक बहाना है। सुनामी के समय भी भारत, इण्डोनेशिया आदि देशों को ऐसी ही 'सहायता' और सैनिकी उपस्थिति की पेशकश अमरीका ने की थी।

उसकी सेना जहाँ भी चली जाती है वहाँ अपना अड्डा जमा लेती है। इसलिए अमरीका की यह मदद हैती के लिए भूकम्प से कहीं ज्यादा विनाशकारी है। अमरीकी मदद के और भी कई उदाहरण है, जैसे अफगानिस्तान को तालिबान से मुक्ति दिलाने के नाम पर अमरीका वहाँ खुलेआम तबाही मचा रहा है। ईराक को सद्दाम से मुक्ति दिलाने के बहाने उसने हमले और नरसंहार के जरिये पूरे देश को तबाह कर दिया। अमरीका ऐसा कोई भी मौका नहीं चूकता और जहाँ भी उसकी 'मदद' की जरूरत होती है वहाँ पहुँचकर वह खून की अन्तिम बूँद चूसे जाने तक मदद करता रहता है।

हमारे शासक भी अमरीका की 'मदद' लेने को बहुत ही लालायित रहते हैं। देश के विकास के लिए वे अमरीका से मदद माँगते हैं, किसानों की तरक्की के लिए मदद माँगते हैं। देश की सुरक्षा के लिए उसके साथ करार कर चुके हैं। नाभिकीय ऊर्जा के लिए उसकी शरण में जा चुके हैं। अर्थव्यवथा के हर क्षेत्र में अमरीकी 'मदद' यहाँ तक कि परचून के सामान बेचने के लिए भी खुदरा व्यापार में अमरीकी 'मदद' की पेशकश कर चुके हैं। अभी तो अमरीका धीरे-धीरे देश की मदद कर रहा है। जरा उस दिन के बारे में सोचिये, जब वह अपने पूरे फौज-फाटे और जोशोखरोश के साथ हमारी मदद पर उतारू हो जाये। उस पर तो यही बात सही ठहरती है ''काटे चाटे श्वान के, दूई भाँति विपरीत।'' ❑

(स्रोत : *काउण्टरपंच*, 13 अप्रैल 2010, एमिली जे. किर्क और जॉन किकी)

पश्चिमी अफ्रीका में भूखमरी की चिन्ताजनक स्थिति

सूखा-ग्रस्त पश्चिमी अफ्रीका के लाखों लोग भुखमरी का सामना कर रहे हैं। इनमें से ढेर सारे लोग पेड़ों के पत्ते खाने और चीटीं की बाँबियों से इकट्ठा अअनाज खाने को मजबूर हैं। अनाज की ऊँची कीमतों और कुपोषित पशुओं के मरते जाने के चलते वहाँ के लोग कुछ भी खाकर जिन्दा रहने की कोशिश कर रहे हैं। नाइजर में भूखे परिवार जंगली पत्तों और उबले हुए पौधों के साथ आटा मिलाकर खा रहे हैं। वहाँ के 70 लाख से अधिक लोग, यानी लगभग आधी आबादी खाद्य असुरक्षा का सामना कर रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्थाओं के मुताबिक अकेले नाइजर में 2 लाख कुपोषित बच्चों के इलाज की जरूरत है। अनाज की कीमतें बढ़ने के कारण चारे के अभाव में अपने लोग कुपोषित पशुओं को जिन्दा मार देने के लिए मजबूर हैं, जबकि पशुपालन ही उनकी जीविका का आधार है। हजारों जानवर भूख से मर गये क्योंकि लोग पशु-चारे को अपने खाने के लिए उपयोग करने लगे।

हालात 1984 के इथिओपिया जैसी हो गयी है जिसमें सूखे और भुखमरी के शिकार लोगों तक राहत न पहुँचाये जाने के चलते 10 लाख लोग काल के गाल में समा गये थे। साम्राज्यवाद का यही चरित्र है। भगत सिंह ने 80 साल पहले ही इसका खुलासा करते हुए बताया था कि साम्राज्यवादी देशों ने पश्चिमी अफ्रीका सहित दुनिया के तमाम देशों को लूट-लूट कर किस हाल में पहुँचा दिया। विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का यह असली घिनौना चेहरा है जिसमें एक छोर पर चर्बी से लदे, थुल-थुल लोग सूअरों की तरह समृद्धि के कीचड़ में लोट रहे हैं तो दूसरी और लोग पशुओं के चारे और जंगली पत्तियाँ खाते, तिल-तिल कर मौत की ओर बढे रहे हैं। अभी हाल ही में प्रकाशित एक अन्तरराष्ट्रीय रिपोर्ट में भारत के आठ राज्यों में गरीबी की तुलना पश्चिमी अफ्रीका की गरीबी से की गयी है। ❑

भारत के कई राज्यों में गरीबी अफ्रीकी देशों से भी अधिक

कहा जाता है कि भारत धनवान है लेकिन भारतवासी गरीब हैं। इस कथन की सच्चाई हाल ही में जारी एक अन्तरराष्ट्रीय रिपोर्ट से होती है। इंग्लैण्ड स्थित ऑक्सफोर्ड निर्धनता और मानव विकास पहल ने संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के साथ मिलकर बहुआयामी निर्धनता सूचकांक जारी किया। इसमें भारत के आठ सबसे गरीब राज्य उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, झारखण्ड, बिहार, छत्तीसगढ़, मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश और राजस्थान शामिल हैं। इन राज्यों में अफ्रीका के 26 सबसे निर्धन देशों से भी अधिक गरीबी है। यह तुलना इन राज्यों में शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवन स्तर जैसे दस मापदण्डों पर की गयी है।

देश में समृद्ध माने जाने वाले राज्य केरल और गोवा भी दुनिया के मध्यम आय वाले देश इण्डोनेशिया और फिलीपींस के समकक्ष हैं।

देश के सबसे गरीब राज्य उत्तर-प्रदेश, बिहार और झारखण्ड, क्रमशः अफ्रीका के गरीब देश कांगो, रवाण्डा और शियारा लियोन के समकक्ष हैं। रिपोर्ट में देश के उत्तर-पूर्वी राज्यों को अमरीकी महाद्वीप के सबसे गरीब देश हैती के समकक्ष रखा गया है। उड़ीसा, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ खनिज भण्डार से समृद्ध हैं। वहीं गंगा से सिंचित उत्तर-प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल की उपजाऊ कृषि भूमि धन-धान्य से पूर्ण है। फिर भी इन राज्यों में आम जनता के लिए बुनियादी शिक्षा और स्वास्थ्य उपलब्ध नहीं हैं। ये वही राज्य हैं, जहाँ सरकार देशी-विदेशी लुटेरे पूँजीपतियों को खनिज सम्पदा लूटने की खूली छूट दे रही है। जाहिर ये कि गरीबी की यह विकरालता संसाधनों की कमी के कारण नहीं, बल्कि हमारे शासकों की जन विरोधी नीतियों और कार्रवाईयों का नतीजा है। ❑

कहाँ से आती हैं कम्पनी प्रबन्धकों की मोटी तनख्वाहें

ऐसे राक्षसों की कहानी तो सबने सुनी होगी जो अकेले हजारों लोगों का खाना डकार जाते थे, फिर भी उनकी भूख नहीं मिटती थी। ऐसी काल्पनिक कहानियाँ हम बचपन में सुनते थे और उन पर सहज विश्वास कर लेते थे। जब हमारी समझ बढ़ी तो हमें लगने लगा कि भला ऐसा भी सम्भव है क्या!

कल तक भले ही इस धरा पर ऐसे राक्षस न हुए हों, पर आज वे जन्म ले चुके हैं। आखिर ये दैत्य कौन हैं?

देश की 4500 से भी अधिक पंजीकृत कम्पनियों में से केवल 175 कम्पनियों ने अपना सी.ई.ओ. और उच्च प्रबन्धन कर्मियों को दिये जाने वाले वेतन का ब्यौरा पेश किया है। उनमें से 60 कम्पनियाँ अपने एक या एक से अधिक शीर्ष अधिकारियों को करोड़ों में वेतन देती हैं। ऐसे सौ से अधिक उच्च प्रबन्धनकर्मी हैं जिनके वार्षिक वेतन करोड़ों में हैं। इस सूची में सन टी.वी. नेटवर्क के प्रबन्ध निदेशक कलानिधि मारन और उनकी पत्नी कावेरी मारन का नाम सबसे ऊपर है। 2010 में इन दोनों की वार्षिक आय 37-37 करोड़ रुपये के ऊपर है। यानी कुल पारिवारिक आय लगभग 74 करोड़ रुपये। मजे की बात तो यह है कि उनकी यह सालाना आमदनी खुद उन्हीं के द्वारा अपने वेतन में 22 प्रतिशत कटौती किये जाने के बाद है। सी.ई.ओ. के वेतन को लेकर देश में चली बहसों और तीखी आलोचनाओं के बाद रिलायन्स इण्डस्ट्रीज के प्रमुख मुकेश अम्बानी ने भी अपने वेतन में कटौती की है और खुद अपना पैकेज, जो पहले 39.36 करोड़ रुपये तय था, घटाकर 15 करोड़ रुपये कर लिया है।

दूसरी ओर अगर हम सरकारी आँकड़ों पर ही विश्वास करें तो एन.सी.सक्सेना आयोग के अनुसार 50 प्रतिशत, तेन्दुलकर कमेटी के अनुसार 42 प्रतिशत और योजना आयोग के अनुसार 28 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की रिपोर्ट बताती है कि देश के 80 करोड़ लोग 20 रुपये रोज से भी कम आय पर गुजर बसर कर रहे हैं। यानी कलानिधि मारन को, जिनकी वार्षिक आमदनी 37 करोड़ रुपये है, अपने ''जीवन-यापन'' के लिए 20 रुपये रोज पर गुजारा करने वाले व्यक्ति की तुलना में पचास हजार गुना से भी ज्यादा की जरूरत पड़ती है। खर्च में कटौती और सादगी के बावजूद मुकेश अम्बानी को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए देश के 80 प्रतिशत लोगों की आय से 20 हजार गुना अधिक आय की जरूरत होती है। मारन और अम्बानी जैसे हजारों क्षुधा-व्याधि पीड़ित इस व्यवस्था में भरे पड़े हैं।

सवाल यह है कि इतना वेतन इनके शारीरिक और मानसिक श्रम के आधार पर तय किया जाता है? क्या एक आदमी 20 हजार लोगों के बराबर मानसिक और शारीरिक श्रम कर सकता है? फिर इन की कमाई कहाँ से आती है? इस गुत्थी को अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। हम जिस पूँजीवादी समाज में रह रहे हैं उसमें उत्पादन के साधनों (जैसे भूमि, औजार, कारखाने) पर मुट्ठीभर पूँजीपतियों का मालिकाना है और मेहनतकश जनता के पास केवल उसकी श्रम शक्ति ही जीने का सहारा है। इस श्रमशक्ति को बेचने से मेहनतकश वर्ग को जो वेतन मिलता है उसके बराबर मूल्य पूँजीपति काम के शुरू के एक-दो घण्टों में ही वसूल कर लेता है। बाकी बचे समय में जो उत्पादन होता है उसे पूँजीपति हड़प लेता है। मान लीजिए कि एक श्रमिक दिनभर में 10 घण्टे काम करता है और श्रमिक की मजदूरी के बराबर उत्पादन के लिए 2 घण्टे काम करने की जरूरत है तो जो 8 घण्टे शेष रह जाएगें उस दौरान वह अपने लिए नहीं, बल्कि अपने मालिक के लिए काम करता है। इस अतिरिक्त समय में जो उत्पादन होता है उसे अतिरिक्त मूल्य कहते हैं। यह अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति को मिलता है, जो उत्पादन के साधनों का मालिक है। यही मालिक वर्ग की आमदनी का स्रोत है। इस तरह मेहनतकशों के श्रम से जो अतिरिक्त मूल्य जमा होता है उसका कुछ अंश पूँजीपति अपने उच्च प्रबन्धन कीर्मियों को वेतन स्वरूप देता है और शेष से वह भोग-विलास करता है।

कुछ गिने-चुनों को मिलने वाले मोटे वेतनों का सपना दिखाकर भोले-भाले विद्यार्थियों और उनके अभिभावकों को अच्छी नौकरी का दिलासा देने वाले विभिन्न कोर्सों में नामांकन

के लिए लुभाया जाता है। बदले में उनसे मनचाही फीस वसूल की जाती है। पढ़ाई पूरी करने के बाद जब वे नौकरी की तलाश में निकलते हैं तो खुद को बेरोजगारों की भीड़ में खड़ा पाते हैं। तभी सच उनके सामने आता है। लेकिन तब तक वे अपनी जिन्दगी का महत्त्वपूर्ण समय नष्ट कर चुके होते हैं। बहुतों को तो रोजगार मिल ही नहीं पाता। जिनको मिलता भी है उन पर काम का बोझ बहुत ज्यादा और मिलने वाला वेतन बहुत कम होता है जिससे वे बामुश्किल ही अपना गुजारा चला पाते हैं। इस प्रकार उनका भरपूर शोषण किया जाता है। यह शोषण शोषितों में असन्तोष उत्पन्न करता है और उन्हें अपराध के रास्ते पर अग्रसर होने को मजबूर कर देता है।

इस तरह उच्च प्रबन्धन कर्मियों को दिया जाने वाला भारी-भरकम वेतन मेहनतकशों के परिश्रम से पैदा होने वाला चुराया हुआ धन है। यह श्रमिकों के निर्मम शोषण का नतीजा है। इस शोषण को खत्म करने का एक ही तरीका है उत्पादन के साधनों पर मेहनतकश वर्गों का पूर्ण अधिकार यानी निजी मालिकाने का पूर्णतया उन्मूलन।

यह पूरी तरह न्यायसंगत है, क्योंकि इस समाज में उत्पादन सामूहिक श्रम से होता है, जबकि उत्पादन का लाभ निजी मालिकों की तिजोरी में चला जाता है। समाज में अमीर-गरीब की खाई का चौड़ा होना, भुखमरी, बदहाली और मौत का कारण यही लूट-तन्त्र है। मानवता की सुख-शान्ति के लिए बेहद जरूरी है कि इस लूट-खसोट का अन्त हो। ❑

भारत में धनकुबेरों की बाढ़ कैसे आयी

पिछले कुछ सालों में हमारे देश में धनकुबेरों की संख्या काफी तेजी से बढ़ी है। अरबपतियों की संख्या में दुनिया भर में भारत का दूसरा स्थान है। मीडिया और सरकार इसे देश के विकास का पैमाना बताते हैं। लेकिन प्रो. रघुराम राजन, जो अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के प्रमुख अर्थशास्त्री रहे हैं और अब वे प्रधानमन्त्री के आर्थिक सलाहकार हैं, इस बात को सन्देहास्पद बताते हैं कि अरबपतियों की बढ़ती संख्या देश की उन्नति का सूचक है। अरबपतियों की संख्या में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ उद्योगों का भी विकास होना चाहिए था, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। सच्चाई तो यह है कि उद्योग बन्द हो रहे हैं और बेरोजगारी बढ़ रही है। अरबपतियों की दौलत सरकार के साथ नापाक गठबन्धन का लाभ उठा कर बढ़ रही है।

यदि हम गौर करें कि किस आर्थिक क्षेत्र में कितने अरबपति पैदा हुए हैं तो हम देखेंगे कि वे सॉफ्टवेयर जैसे नये उद्यमों से नहीं आये हैं। अधिकांश अरबपति रियलस्टेट, खनन उद्योग और अन्य ऐसे क्षेत्रों से आये हैं जहाँ सरकार की अनुमति और लाइसेन्स की जरूरत होती है। ये सभी क्षेत्र वे हैं, जो या तो सार्वजनिक सम्पत्ति हैं या जिन्हें बनाने में आम जनता ने अपना खून-पसीना बहाया है। आज सरकार उन्हें उद्योगपतियों के हाथों कौड़ियों के मोल बेच रही है, जिसके चलते इन धन कुबेरों की दौलत दिन-रात बढ़ती जा रही है।

प्रो. रघुराम राजन के मुताबिक आज राजनेताओं और उद्योगपतियों के आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं, जिससे इनकी ताकत बेहिसाब बढ़ रही है। इसका लाभ-उठाकर ये धनकुबेर मनमाना व्यवहार करते हैं। जिससे प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। इसका नतीजा लगातार कम होती गुणवत्ता और घटते विकास दर के रूप में सामने आयेगा। इससे लोकतन्त्र पर भी प्रश्न चिन्ह खड़ा हो सकता है। ऐसा न हो कि मेक्सिको की तरह भारत में भी, जहाँ लोकतन्त्र मुट्ठी भर कुलीन लोगों का तन्त्र बन कर रह गया है, स्थिति खतरे का निशान पार कर जाये। नेताओं से अपने सम्बन्धों के दम पर उद्योगपति भरपूर फायदा उठा रहे हैं। आम जनता की कमाई से खड़ी की गयी सार्वजनिक सम्पत्ति को कानून बना-बना कर पूँजीपतियों को बेचा जा रहा है। परिणामस्वरूप एक तरफ जहाँ गिने-चुने लोग अमीर बन रहे हैं वहीं आम लोग बदहाली में जीने को मजबूर हैं।

कभी-कभी सच्चाई सर चढ़ कर बोलती है। प्रो. रघुराम राजन, जो सच्चाई जान रहे हैं और अखबारों के जरिये यह सच्चाई हम तक भी पहुँच गयी है, क्या यह हमारे देश के प्रधानमन्त्री को नहीं मालूम होगी? ❑

जर्मनी : लव परेड में भगदड़

25 जुलाई 2010 को जर्मनी के डूइशबर्ग शहर में आयोजित लव परेड में 20 लोगों की मौत हुई और 500 लोग बुरी तरह जख्मी हुये। आयोजन स्थल पर ढ़ाई लाख लोगों की मेजबानी का इन्तजाम था, लेकिन हर्षोन्माद में लगभग 14 लाख लोग वहाँ जमा हो गये थे। अलग-अलग गाने-बजाने वाली टोली, हजारों ट्रकों पर हाई वोल्टेज का स्पीकर और किसी क्लब या कम्पनी का प्रचार बैनर लगाये नाचती गाती वहाँ पहुँच रही थी। समारोह स्थल तक पहुँचने का एक ही संकरा सुरंगनुमा रास्ता था। बेशुमार भीड़ और अफरा-तफरी को देखते हुए जब पुलिस ने और अधिक लोगों को वहाँ जाने से रोका तो वहाँ धातु की बनी सीढ़ी से गुजरते लोगों में भगदड़ मच गयी। पुलिस के एलान पर ध्यान दिये बिना कार्यक्रम में शामिल लोग अपनी मौज-मस्ती में लीन रहे। एक तरफ भगदड़ से कुचल कर लोग हताहत हो रहे थे, लाशें पड़ी थीं, घायल लोग तड़प रहे थे जबकि दूसरी तरफ कार्यक्रम लगातार चलता रहा। इतनी दर्दनाक घटना के बावजूद आयोजकों ने कार्यक्रम की सफलता के लिए लोगों को धन्यवाद दिये। शायद प्रेम प्रदर्शन करने आये नौजवानों का मरना, घायल होना और दर्द से तड़पना ही उस कार्यक्रम की सफलता का पैमाना रहा हो।

जर्मनी एक विकसित देश है, फिर भी वहाँ व्यवस्था में ऐसी लापरवाही हुई कि वहाँ केवल 1,000 पुलिसकर्मी तैनात थे जबकि कम से कम 3,000 पुलिसकर्मियों की जरूरत थी। मन्दीग्रस्त जर्मनी की सरकार ने शायद खर्च में कटौती के चलते इन्तजाम में कमी की थी। जर्मनी के कई बड़े शहरों के प्रशासन ने इस आयोजन की अनुमति नहीं दी थी। इसीलिए इस साल यह कार्यक्रम एक छोटे और अन्जान शहर में हुआ। ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन करने वाली कम्पनियाँ विज्ञापन और प्रायोजन के जरिये भारी मुनाफा कमाती हैं। जबकि पैसा बचाने के लिए कम से कम सुविधा में काम चलाती हैं। यह हादसा भी इन कम्पनियों के मुनाफे की हविस और सरकार की घोर लापरवाही का परिणाम है।

इस लव परेड में 20 से 40 वर्ष की आयु वाले कई देशों के नौजवान शामिल हुए। हादसे में मरने वालों में आस्ट्रेलिया, इटली, नीदरलैंड, चीन और स्पेन के नागारिक थे। सवाल यह है कि कई देशों के नौजवान प्रेम प्रदर्शन के लिए लाखों की संख्या में लव परेड में तो हिस्सा ले सकते हैं। लेकिन इस दुनिया को कैसे प्रेम करने लायक बनाया जाय, पर्यावरण के विनाश और पूरी पृथ्वी पर मंडराते खतरे को लेकर विरोध-प्रदर्शन करना तो दूर, वे कुछ सोचने के लिए भी तैयार नहीं हैं। सवाल यह भी है कि प्रेम भावना के उबाल में वहाँ पहुँचे लोगों की मानसिकता कैसी है कि आयोजन के दौरान ऐसे दर्दनाक और मार्मिक हादसे के बावजूद वे नाचते-गाते और आलिंगन चुम्बन में मनन रहे। बाद में भी किसी ने कोई विरोध नहीं किया। अपने सहभागी मृतकों और घायलों के प्रति उनके मन में कोई सहानुभूति नहीं थी। आखिर इन मानवीय मूल्य-मान्यताओं का खत्म होना क्या दर्शाता है? इस पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने चरित्र के अनुरूप लोगों को एक दूसरे से काटकर सिर्फ अपने लिए जीने और 'अपना काम बनता, भाड़ में जाये जनता' की मानसिकता तैयार की है। सामूहिकता की भावना, दुख-दर्द में एक दूसरे के काम आना, दया, करूणा जैसे मूल्यों को इसने रूपया-आना-पाई में बदल दिया है।

आज पूरी दुनिया पर्यावरण संकट के चलते विनाश के कगार पर खड़ी है। पूरे यूरोप और जर्मनी की जनता भी आज आर्थिक मन्दी और बेरोजगारी से बुरी तरह त्रस्त है। लेकिन नौजवान इन मुद्दो पर एकत्रित होने के बजाय प्रेम प्रदर्शन में शामिल होकर गर्व महसूस करते हैं। ऐसा हमेशा से नहीं रहा है। दुनिया भर में नौजवानों के पास आज कोई आदर्श नहीं है। वे नेतृत्वहीन और दिशाहीन हैं। युवा वर्ग में जड़ जमाये चरम व्यक्तिवाद, स्वार्थपरता, क्षणजीवी मनोवृति को मुनाफे में बदलने वाली संस्थाएँ ऐसे आयोजनों से भरपूर कमाई करती है। अलग-अलग व्यक्ति भी अपने निजी सुख और खुशी की तलाश में ही इसमें शामिल होते हैं। यदि वे किसी बड़े उद्देश्य के लिए इकट्ठा होते तो क्या वे अपने सहयोगियों की मौत और उनके घायल होने के प्रति इतने निष्ठुर होते? ❑

मेक्सिको की खाड़ी में तेल रिसाव

20 अगस्त 2010 को मक्सिको की खाड़ी में ब्रिटिश पेट्रोलियम कम्पनी के एक कुएँ में विस्फोट हो गया, जिससे बहुत तेज गति से कच्चा तेल निकलकर समुद्र में फैलने लगा। इस विस्फोट से 11 कर्मचारियों की तत्काल मौत हो गयी और 17 कर्मचारी घायल हो गये। पेट्रोलियम उद्योग के इतिहास का यह सबसे बड़ा समुद्री तेल रिसाव है। मार्च-अप्रैल में तेल कुएँ के कर्मचारियों ने इसके बारे में कई बार चेतावनी दी थी, फिर भी समय रहते बचाव का कोई उपाय नहीं किया गया। तीन महीने बाद, 15 जुलाई को छिद्र के मुहाने पर एक कैप (ठेंपी) लगाकर रिसाव बन्द किया गया, लेकिन तब तक 78 करोड़ लीटर तेल बर्बाद हो चुका था। अनुमान है कि हर रोज लगभग 84 लाख लीटर तेल रिसकर समुद्र में फैलता रहा जिसने समुद्री जीवों और पर्यावरण पर बहुत ही विध्वंसक प्रभाव डाला है।

पेट्रोलियम की विषाक्तता और पानी में ऑक्सीजन की कमी हो जाने सेमुद्री कछुओं की 4, मछलियों की 1200, पक्षियों 200, घोंघा सीप आदि की 1400, झींगा केकड़ा आदि की 1500 और समुद्री स्तनधारी जीवों की 29 प्रजातियों सहित कुल 8332 प्रजातियों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। समुद्र में 13 अगस्त तक 4768 मृत जानवर पाये गये। अपनी घरेलू नौका से मछली पकड़कर जीविका चलाने वाले हजारों मछुआरों की जिन्दगी भी संकट में है। 24 मई को अमरीकी सरकार को अलाबाम, मिसीसिपी और लुसियाना राज्यों में मत्स्य संकट घोषित करना पड़ा। इन राज्यों का मत्स्य उद्योग तबाही के कगार पर आ गया है। साथ ही वहाँ का पर्यटन उद्योग भी बुरी तरह प्रभावित हुआ है। अमरीका की ट्रेवल एसोसिएशन के अनुसार पर्यटन उद्योग पर तेल रिसाव के कारण अगले तीन सालों में 23 अरब डॉलर की मार पड़ेगी। यह क्षेत्र 4 लाख लोगों को रोजगार देने के साथ-साथ 34 अरब डॉलर सालाना राजस्व पैदा करता है।

इस तेल रिसाव ने सफाई कर्मचारियों के स्वास्थ्य को भी नहीं बख्सा। 29 मई को तेल रिसाव की सफाई में लगे 10 कर्मचारियों के शरीर में पानी की कमी हो जाने के कारण उन्हें अस्पताल में भर्ती करना पड़ा। 15 जून को लुसियाना पर्यावरण एक्सन नेटवर्क संस्थान के निदेशक मारीली ओर ने बताया कि तेल रिसाव के दुष्प्रभाव से खाड़ी के लोगों में तरह-तरह की बीमारियाँ फैल रही हैं।

तेल रिसाव की दुर्घटना समुद्र की तलहटी के नीचे काफी गहराई में हुई थी जो ब्रिटिश पेट्रोलियम द्वारा लीज पर ली गयी ट्रांसओसेन नामक कम्पनी से सम्बन्धित है। इसमें बहुत गहरे लगभग 8000 फुट पानी के नीचे जमीन में छेद करके पेट्रोलियम निकाला जाता था जो तेल के उच्च दबाव के कारण बारूद के ढेर में पलीता लगाने से भी ज्यादा खतरनाक थी। कम्पनी की इस इकाई को स्थापित करते समय इन बातों को क्यों नजरअन्दाज किया गया? क्यों पहले से ही सुरक्षा के जरूरी उपाय नहीं किये गये। वास्तव में इस संकट की पृष्ठभूमि अगस्त 2002 में बननी शुरू हो गयी थी, जब बुश प्रशासन ने तेल और ऊर्जा की दैत्याकार कम्पनियों को फायदा पहुँचाने के लिए बीमारी और पर्यावरण प्रदूषण की रोकथाम करने वाले समूचे राष्ट्रीय बोर्ड को ही बदल दिया।

1990 में अमरीकी खनिज प्रबन्धन सेवा पर सेक्स स्कैण्डल का आरोप लगा और 2008 में आन्तरिक जाँच के बाद पाया गया कि इस संस्था के अधिकारी औरतों और नशीली दवाइयों की खरीद-फरोख्त जैसे गैरकानूनी कामों में लिप्त हैं। यह संस्था समुद्री खनन के नियमन और निगरानी के लिए बनायी गई थी, लेकिन खुद ही भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूब गयी। इसी संस्था पर मेक्सिको की खाड़ी में ब्रिटिश पेट्रोलियम द्वारा कराये जा रहे खनन की निगरानी करने की जिम्मेदारी थी। इसने बेहद खतरनाक काम किया। अप्रैल 2009 में इसने ब्रिटिश पेट्रोलियम कम्पनी को राष्ट्रीय पर्यावरण नीति से छुटकारा दिला दिया। इस तरह सरकारी अधिकारियों ने कायदे-कानून को मजाक बना दिया है।

तेल रिसाव के लिए जिम्मेदार ब्रिटिश पेट्रोलियम एक दैत्याकार कम्पनी है जिसकी 2006 में कुल आय 246 अरब डॉलर थी। इसने प्रत्येक महाद्वीप और महासागर में अपना धन्धा फैला रखा है। पूँजी और कुशलता हासिल करने के लिए सरकारें इसे नियम कानूनों से मुक्त कर देती हैं। सबसे पहले मजदूरों से जुड़े और पर्यावरण से सम्बन्धित नियमों को ताख पर रखा जाता है। जो भी कायदे-कानून मुनाफे के आड़े आते हैं उन्हें मसल दिया जाता है। इस तेल विपदा ने अमरीकी राजनीति की चालबाजियों को भी बेपर्दा कर दिया। इसने यह दिखला दिया हैं कि दुनिया में सर्वोच्च सभ्यता का दिखावा करने वाले अमरीकी शासक वास्तव में मुट्ठीभर दैत्याकर निगमों के हाथों के खिलौने है। वे टी.वी. के

पर्दे पर और मीडिया में बड़े निगमों की काली करतूतों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की हवाबाजी करते हैं और टी. वी. के पर्दे से हटते ही इन कम्पनियों से हाथ मिला लेते हैं। भारत से लेकर अमरीका तक, आज दुनिया के अधिकांश शासक अपनी जनता को गुमराह करके मुट्ठीभर कम्पनियों के फायदे के लिए काम करते हैं।

तेल कुएँ में विस्फोट कोई प्राकृतिक दुर्घटना नहीं, बल्कि सुरक्षा मामलों में ढील देने का नतीजा था। यही ब्रिटिश पेट्रोलियम ब्राजील के समुद्र तट और नार्वे के उत्तरी समुद्र में तेल कुओं के लिए रेगुलेटर का इस्तेमाल करती है। हस्तचालित स्विच के फेल होने पर इसी रेगुलेटर से पाइप को बन्द करके दुर्घटना से बचा जा सकता है। लेकिन मेक्सिको की खाड़ी के गहन जल क्षितिज इकाई में यह रेगुलेटर नहीं लगाया गया था, क्योंकि 2001 में अमरीका के उपराष्ट्रपति डिक चेनी ने खनिज प्रबन्धन सेवा में अपने पसन्दीदा अधिकारियों को नियुक्त किया और इस संस्था ने 2003 में महँगा होने का हवाला देकर नये तरह के रेगुलेटर के उपयोग से इन्कार कर दिया। रेगुलेटर स्विच का दाम 5 लाख डालर है जो इस तेल विपदा से होने वाले नुकसान के आगे कुछ भी नहीं है। 2005 में अमरीकी सरकार ने निर्णय लिया कि तेल निकालने की आधुनिक प्रणाली पूरी तरह सुरक्षित है, इसलिए रेगुलेटर स्विच की इसमें कोई जरूरत नहीं है। डिक चेनी ने ऐसा निर्णय क्यों किया, यह समझना भी मुश्किल नहीं है। चेनी तेल सेवा प्रदान करने वाली कम्पनी हैलीबर्टन से जुड़े रहे हैं, जिसके कर्मचारी गहन जल क्षितिज इकाई (तेल रिसाव वाले प्लाण्ट) में काम करते थे। इस तरह जार्ज बुश के राष्ट्रपति कार्यकाल में निजी उद्योग और सरकार के बीच की विभाजक रेखा और भी अधिक क्षीण हो गयी। अब अमरीका की बड़े निगमों की निगरानी और नियमन करने वाली संस्थाओं के अधिकारी उन्हीं निगमों से आकर्षक वेतन लेकर उनकी सेवा करते हैं। इस तरह सरकारी नियामक संस्थाएँ अपाहिज होकर खानापूर्ति का साधन बन गयीं।

अब एक नजर राहत और सफाई पर चल रही राजनीति पर डाल लेना जरूरी है। 2010 के शुरूआती तीन महीनों में 5. 6 अरब डॉलर की कमाई और विराट आर्थिक सम्पदा वाली ब्रिटिश पट्रोलियम आज समुद्र की सफाई पर हर रोज केवल 60 लाख डॉलर खर्च कर रही है। अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ने के लिए यह कम्पनी लगातार इसे दुर्घटना का रूप देने पर तुली है, जबकि यह विपत्ति सीधे-सीधे सरकार और कम्पनी की लापरवाही का नतीजा है। नवम्बर 2009 में इस कम्पनी के अधिकारी डेविड रैन ने इस तेल के कुएँ को पूरी तरह सुरक्षित बताया था। कम्पनी के प्रधान टोनी हेवार्ड ने यह कहते हुए अपना पल्ला झाड़ लिया कि मैं निर्णय लेने वाली प्रक्रिया में शामिल नहीं था। क्षतिपूर्ति के दबाब के कारण शेयर बाजार में कम्पनी का सूचकांक गिर चुका है इसलिए भी कम्पनी क्षतिपूर्ति में अधिक योगदान नहीं करना चाहेगी, वरना उसके निवेशक और भी नाराज हो जायेंगे।

30 जून 2009 को इस कम्पनी ने तेल रिसाव की रोकथाम के लिए एक योजना बनायी थी। 583 पृष्ठों के दस्तावेज में ऐसी चीजों का वर्णन है जो आश्चर्यजनक है। इस रिपोर्ट में कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को मना किया है कि वे सम्पत्ति, पर्यावरण या अन्य दूसरी चीजों में सुधार या क्षतिपूर्ति का वादा न करें और तेल रिसाव या उसके दुष्परिणामों की जिम्मेदारी भी अपने सिर न लें। अमरीका की खनिज प्रबन्धन सेवा ने इसे स्वीकार न किया होता और सच्चाई की छानबीन करती तो सम्भवतः इस हादसे को टाला जा सकता था। सन् 2000 के एक शोध दस्तावेज में इस संस्था ने कहा था, ''तेल रिसाव के विध्वंस का समाधान किसी भी कम्पनी के पास नहीं।'' इसके बावजूद कम्पनियों ने दुर्घटना रोकने से सम्बन्धित कोई शोधकार्य नहीं करवाया।

लेकिन सभी दोष बुश प्रशासन के सर मढ़कर ओबामा प्रशासन को बरी नहीं किया जा सकता। ओबामा के कार्यकाल में ब्रिटिश पेट्रोलियम के सिल्विया वी.वाका को आन्तरिक मन्त्रालय में लेना, तेल कम्पनियों को पर्यावरण और श्रम मामलों में भारी छूट देना और दैत्याकार कम्पनियों के मुनाफे को बढ़ाने में मदद करना, यह सब बुश के बाद ओबामा प्रशासन के दौरान भी बदस्तूर जारी रहा है। यहाँ तक कि अप्रैल में तेल रिसाव के बाद खनिज प्रबन्धन सेवा ने सुरक्षा एवं पर्यावरण मानकों में ढील देकर 27 नये समुद्री तेल निकासी परियोजनाओं को स्वीकृति दी है।

तेल रिसाव से सम्बन्धित सभी तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद हम देखते हैं कि दुनिया के पर्यावरण विनाश की चिन्ता में व्याकुल अमरीकी सरकार और वहाँ के पूँजीपति अपने मुनाफे की हवस में मामूली नियम-कानून और सुरक्षा उपायों का भी पालन नहीं करते। यही लोग दुनिया में पर्यावरण प्रदूषण के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार हैं, लेकिन ढिठाई से दूसरों के मत्थे दोष मढ़ते रहते हैं। इनकी रहनुमाई में हमारी धरती और दुनिया कितनी सुरक्षित है, यह तेल-रिसाव प्रकरण से भी जाहिर हो जाता है। ❑

महाराष्ट्र के अजात आन्दोलन की त्रासदी

''भला कोई ऐसा भी हो सकता है जिसकी कोई जाति न हो? हमारी बात पर यहाँ कोई विश्वास नहीं करता और लोग हमसे इस तरह पेश आते हैं, मानो हम किसी दूसरे ग्रह के प्राणी हों।'' ऐसा कहना है मनोज का जो कि कॉलिज में पढ़ते हैं। मनोज के चाचा चैतन्य प्रभु जिनकी कोई भी जाति नहीं है। इनके स्कूल त्यागने के प्रमाण पत्र पर जाति की जगह 'अजात' अंकित है। इनकी जाति न मानना और 'अजात' होना आज इनकी परेशानी का कारण बन गया है।

'अजात' कोई जाति नहीं। यह एक सामाजिक आन्दोलन का नाम है इसके प्रवर्तक गणपति भाभुल्कर ने 1920 में यह आन्दोलन शुरू किया था। अपने इस आन्दोलन के द्वारा उन्होंने जातिवाद पर तीव्र प्रहार किया था और निजी सम्पत्ति की व्यवस्था की भी आलोचना की थी। उस समय इस विचार से प्रभावित होकर ढेर सारे लोग इसके अनुयायी बने थे। 1920 के अपने स्वर्णिम काल में मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ में इसके 10 हजार से अधिक अनुयायी थे और सम्पूर्ण भारत में इनकी संख्या 60,000 से अधिक थी। 1930 में गणपति भाभुल्कर ने इनको 'अजात' नाम दिया। उनके अनुयायी पी.एल. निमकर ने बताया कि वे लोगों से अपना-अपना भोजन मँगवाते थे और सबको एक साथ मिलाकर दुबारा उसे लोगों में बाँटा जाता था, जिसे वे प्रसाद कहते थे। सभी जातियों का एक साथ खाना गाँव में विवाद का कारण बना और इसके चलते 'अजात' लोगों को स्थानीय लोगों का गुस्सा भी झेलना पड़ा। इस आन्दोलन ने विधवा-विवाह और अन्तरजातीय विवाह के लिए भी लोगों को प्रेरित किया। भाभुल्कर ने खुद तो अन्तरजातीय विवाह किया ही था, उनके परिवार के अन्य सदस्यों की ग्यारह अलग-अलग जातियों में शादियाँ हुई थीं।

भारत की रूग्ण मानसिकता वाली राजनीति के कारण इनको छात्रवृत्ति और सरकारी नौकरियों से वंचित रहना पड़ा अब तो स्थिति यह हो गयी है कि स्कूल वाले इनके बच्चों का दाखिला तक नहीं ले रहे हैं। लोग अपने बच्चों की शादियाँ भी इनके साथ नहीं करवाना चाहते। जाति नहीं होने के कारण ये चुनाव में पर्चा भरने के पात्र भी नहीं हैं, जिससे ये पंचायती चुनाव नहीं लड़ सकते। इन परेशानियों से आजिज आकर अब लोग अपने को इस बात से अलग कर रहे हैं। वे फिर से अपनी जाति खोज निकालने को मजबूर हैं, ताकि वे इस जाति आधारित समाज में अपना गुजारा कर सकें।

ऐसा नहीं है कि सरकार को इन लोगों की जानकारी नहीं है इसलिए वह इनके लिए कुछ नहीं कर पाती। सरकार जानबूझकर इनकी अनदेखी करती है, क्योंकि यहाँ की राजनीति को जातिविहीन समाज की नहीं, बल्कि जातिवादी समाज की जरूरत है। आज की खुली जातिवादी राजनीति से यह बात बिलकुल साफ है। इस सड़ाँन्ध भरी राजनीति ने अजातों को वापस जातीय दलदल में धकेल दिया है, वरना इनकी इच्छा जाति व्यवस्था में वापस जाने की बिलकुल नहीं है। इस आन्दोलन के हजारों लोग जो एक समय 'अजात' होने पर गर्व करते थे, आज एक या दो हजार की संख्या में रह गये हैं और स्वयं एक जाति में बदल दिये गये हैं।

'अजात' आन्दोलन के प्रवर्तक गणपति भाभुल्कर के पोते, चैतन्य प्रभु का मानना है कि हमने हर उस चीज का विरोध किया जो जाति के पक्ष में थी। लेकिन इस समाज में जाति हर चीज में है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अजात आन्दोलन एक प्रगतिशील कदम था और इसके प्रवर्तकों ने समाज को आगे ले जाने की शानदार कोशिश की थी, लेकिन जातिवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं और इसके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आधार इतने मजबूत हैं कि केवल अच्छी भावना और पवित्र इच्छा के दम पर इसको उखाड़ फेंकना आसान नहीं है। अजात आन्दोलन की असफलता से यह बात पुष्ट होती है कि जब तक शोषणकारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था और जातिवाद पर आधारित राजनीति बनी रहेगी, तब तक भारत में जातिविहीन समाज की स्थापना सम्भव नहीं। हालाँकि व्यक्तिगत स्तर पर जातिवाद का विरोधी होना एकदम सम्भव है और जरूरी भी। ❑

(पी. साईनाथ के एक लेख का संक्षिप्त रूपान्तर प्रस्तुति दिनेश)

चली है रस्म कि कोई न सर उठा के चले

❑सुरेन्द्र पाल सिंह

21 अप्रैल 2010 को हिसार जिले के मिर्जापुर गाँव में जब पुलिस गाँव की चौपाल पर वहाँ के दबंग लोगों द्वारा दलित समुदाय के दो मुखिया व्यक्तियों की पिटाई के मामले की जाँच करने आयी थी, ठीक उसी वक्त खास जात के एक समूह ने गाँव के वाल्मीकि समुदाय की बस्ती पर शर्मनाक और पाशविक हमला किया। दलित परिवारों के करीब बीस घरों को आग लगायी गयी जिसमें 18 साल की अपाहिज लड़की सुमन और उसके बीमार पिता तारा चन्द को जिन्दा जला दिया गया। आगजनी का सिलसिला लगभग तीन घण्टे तक चलता रहा। पुलिस और गाँव के 'माननीय' बुजुर्ग मूकदर्शक बने रहे।

घटना के कारणों का तरह-तरह से ब्यौरा दिया जा रहा है, लेकिन जब तक हम इस प्रकरण को ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से नहीं देखेंगे तब तक हमारा आकलन अधूरा होगा। यह घटना भारतीय समाज में नयी नहीं है। दुलिना गाँव में गौवध के बहाने दलित युवकों की निर्मम हत्या और गोहाना में दलित बस्ती पर नृशंस हमला जैसी दलित उत्पीड़न की घटनाएँ हमारे मानस पटल पर अभी तरोताजा हैं। दलित जातियों का हुक्का पानी बन्द व उनके खिलाफ मान-सम्मान को चोट पहुँचाने वाली अनेकानेक छोटी-मोटी वारदातें तो रोज़मर्रा की बाते हैं। आमतौर पर यह माना जाता है कि अपमान भरा जीवन जीना तो निम्न जाति वालों की नियति है। उल्लेखनीय है कि दलित समुदाय के किसी एक या दो सदस्यों द्वारा अगर कोई ऐसा काम कर दिया जाता है जो दबंग जाति वालों को नागवार लगे तो उसके लिए पूरे दलित समुदाय को जिम्मेवार माना जाता है और सजा देने की जिम्मेवारी दबंग जाति के लोग खुद अपने हाथ में लेने को तैयार रहते हैं। सजा का तौर-तरीका भी उनका अपना होता है। ऐसे में न तो देश का कानून आड़े आता है, न ही पुलिस प्रशासन। लेकिन, इसके विपरीत दबंग जाति के सदस्यों को इस बात की खुली छूट है कि वे अपनी मन मर्जी से कुछ भी करें। किसी की क्या मजाल कि उनके समुदाय पर कोई अंगुली उठाए। यही वजह है कि निम्न जाति के पुरुष और महिलाओं की इज्जत हमेशा दाँव पर रहती है। उनके लिए सिर उठा कर जीने की कीमत बहुत महँगी पड़ सकती है। न जाने किस बहाने से दलित समुदाय का कोई सदस्य पूरे समुदाय के लिए आफत का कारण बन जाये और ऐसे में हमले का मुख्य बिन्दु बनेंगे वे लोग जो इज्जत, इंसानियत और खुशहाली की बातों में यकीन करते हैं। ऐसा ही हुआ मिर्जापुर गाँव में, जहाँ विशेष तौर पर वाल्मीकि समुदाय के उन परिवारों को निशाना बनाया गया जो आर्थिक तौर पर बेहतर स्थिति में थे। अनहद नाम के एन.जी.ओ. की शबनम हाशमी के अनुसार गाँव में मछली के तालाब का ठेका एक दलित द्वारा ले लेना भी दबंग जाति के लोगों के लिए तकलीफ का बड़ा कारण था।

हर ऐसी घटना के पीछे मंशा एक ही रहती है कि सदियों से दबे-कुचले लोग किसी भी कीमत पर इज्जत भरी जिन्दगी का अरमान न पाल लें। मनु स्मृति के विधि-निषेध किसी-न-किसी रूप में आज भी प्रचलित हैं, जिन्हें न तो देश का संविधान समाप्त कर पाया है और न ही आरक्षण व्यवस्था। इस सन्दर्भ में मुझे एक बार रेलगाड़ी में सफर करते हुए दो यात्रियों के बीच हुआ वार्तालाप याद आ रहा है।

पहला उससे उसकी जाति पूछता है और इसके बाद कहता है, ''मैंने तो सिर्फ एक कसूर किया है कि मैं बिना टिकट हूँ, लेकिन तूने तो दो अपराध किये हैं एक तो बिना टिकट और ऊपर से तू नीची जाति का आदमी। कसूरवार की जाति इस बात का मापदण्ड है कि उसे क्या सजा मिले। यथार्थ के धरातल पर यह एक कड़वी सच्चाई है। थाने-कचहरी में जब भी कोई मामला जाता है तो व्यक्ति की जाति पूछना -लिखना आम बात है और यहीं से शुरू हो जाता है भेदभाव का सिलसिला निम्न जाति वाले व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक दबाब होता है कि ये थाने, कोर्ट-कचहरी उसके अपने नहीं हैं। अपने आपको निम्न जाति का बताना ही उसके दिलो-दिमाग पर सदियों पुरानी हीन-भावना का छा जाना है। अफसोस की बात है कि हमारे देश में जब भी ऐसी वारदात होती है तो

क्रिया-प्रतिक्रिया के नाते जातिगत या सम्प्रदायगत टिप्पणियाँ ही सुनने को मिलती हैं। हिसार सचिवालय के सामने जो धरना दिया गया उसमें सिर्फ जाति विशेष के लोग ही शामिल थे। जब गुजरात में मुस्लिम समुदाय को हिंसा का शिकार बनाया गया, 1984 में सिख विरोधी दंगे हुए, ओड़िसा में ईसाई आदिवासियों को जब निर्ममता का शिकार बनाया गया तो विरोध में उठे हुए हाथ आम जनता के नहीं थे। क्या मानवता का मुद्दा जातियों और सम्प्रदायों की सीमाओं का गुलाम है? जब तक विभिन्न सामाजिक समूह और प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति संकीर्ण दायरों से ऊपर उठ कर मानवता, आजादी, समानता, भाईचारा, न्याय, एकता, सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर एक सशक्त आंदोलन खड़ा करके समाज सुधार और सांस्कृतिक आंदोलन की प्रक्रिया को मजबूती नहीं प्रदान करेंगे तब तक पूरे देश को बर्बरता और समाज के एक बड़े हिस्से की बदहाली का खामियाजा भुगतना पड़ेगा। ध्यान रहे जब पुलिस, प्रशासन, न्याय प्रणाली, समाज व्यवस्था कमजोर नागरिक को ऐसा वातावरण न दे पायें जहाँ वे सिर उठा कर इंसान की जिन्दगी जी सकें, तो अतिवादी सोच का उपजना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। अफसोस आज देश के विभिन्न हिस्सों में इसी प्रकार की घटनाएँ देखने को मिल रही हैं। ❑

महँगाई 'डायन' ने किसे किया मालामाल और कौन हुआ कंगाल?

❑अश्विनी कुमार

आजकल 'पीपली लाइव' फिल्म का एक गीत काफी लोकप्रिय हुआ है, सखी सैंया तो खूब ही कमात हैं, महँगाई डायन खाए जात है।' यानी रात-दिन काम करने के बावजूद कमाई की तुलना में महँगाई कई गुणा अधिक बढ़ती जा रही है। इसलिए घर में जो जरूरी चीजें आनी चाहिए, वे नहीं आ पातीं।

लेकिन सिर्फ महँगाई को कोसने भर से काम नहीं चलेगा, बल्कि इसके पीछे छिपे 'दानव' को भी खोज कर उसकी नाभि में वार करना होगा, तब जा कर हम महँगाई जैसी 'डायन' के चंगुल से निकल पायेंगे। सबसे पहले तो सवाल यह उठता है कि क्या महँगाई का प्रभाव समाज के हर तबके पर समान रूप से पड़ता है? बिलकुल नहीं। समाज में दो तरह के लोग होते हैं। एक वे जिनकी आय का स्रोत उनकी मेहनत होती है, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक। दूसरी तरफ, वे हैं जिनकी आय का स्रोत मेहनत की लूट होती है और जो ब्याज, किराया तथा मुनाफे के रूप में मेहनतकशों की कमाई को हड़प लेते हैं। समाज के पहले वर्ग में आने वाले लोगों में भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग असंगठित क्षेत्र में काम करने वालों का है, जिसकी आय पूर्णतः जड़ता की स्थिति में है। दूसरी तरफ, सरकारी बाबू-कर्मचारी हैं जिनकी आय महँगाई के हिसाब से कुछ बढ़ती रहती है।

महँगाई हमेशा सम्पत्तिधारी वर्ग के पक्ष में होती है, क्योंकि महँगाई के दौर में उसकी सम्पत्ति की कीमतें बढ़ती हैं। फलस्वरूप उसका लाभ भी तेजी से बढ़ता है। अगर महँगाई की दर पाँच प्रतिशत से कम हो जाये तो ये लोग उसे मंदी कहकर हाय-तौबा मचाते हैं। सीमित आय वाले लोग, चाहे वे असंगठित क्षेत्र के मज़दूर हों या गरीब किसान, उनकी आय की अपेक्षा महँगाई में बढ़ोत्तरी कहीं अधिक होती है। इस वर्ग के लोग अपनी आय का अधिकतम हिस्सा, लगभग 40 प्रतिशत, खाद्य पदार्थों पर खर्च कर देते हैं। इसलिए महँगाई, खास तौर पर खाद्य पदार्थों की कीमतों में होने वाली बढ़ोत्तरी का प्रत्यक्ष प्रभाव इसी वर्ग पर देखने को मिलता है, जबकि सम्पत्तिवान उच्च वर्ग महँगाई के फलस्वरूप रातोंरात मालामाल हो जाता है। बाजार से जो महँगी सब्जियाँ हम खरीद कर लाते हैं, उसका फायदा न तो उसके फुटकर विक्रेता को और न ही किसान को मिल पाता है। फुटकर विक्रेता तो मात्र कमीशन एजेंट होता है। किसान भी अपने उत्पाद को औने-पौने दामों पर बेचने को मजबूर होता है ताकि अपने खर्च निकाल सके। उसे तो इस महँगाई में कुछ मिलता ही नहीं है। उदाहरण के लिए जो अरहर की दाल हम 100 रुपये प्रति किलो के भाव से खरीदते हैं, वह किसान से मात्र 30 रुपये प्रति किलो में खरीदी जाती है। यानी 70 रुपये प्रति किलो का मुनाफा। आखिर यह मुनाफा जाता कहाँ है? यह जाता है देशी-विदेशी सट्टेबाजी की जेब में। सट्टेबाजी, जिसे अब सरकार ने फ्यूचर ट्रेडिंग का कानूनी जामा पहना दिया है, इस धंधे में

देशी-विदेशी पूँजीपतियों सहित हमारे राजनेता समान रूप से प्रतिभागी हैं। ये बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ प्राथमिक बाजार (खेतों) से औने-पौने दाम पर खाद्य पदार्थों की खरीद करती हैं, तथा सट्टेबाजी और जमाखोरी करके इनकी कीमतें बढ़ाती हैं। सरकार को चलाने वाले नौकरशाह और राजनेता जानबूझ कर एक तो खाद्य पदार्थों की सरकारी खरीद कम करते हैं, दूसरी तरफ सरकारी गोदामों में पड़े अनाज को सड़ने देते हैं। जब अनाज की कीमतें अन्तरराष्ट्रीय बाजार में कम होती हैं तब हमारे देश की सरकार अनाज का निर्यात करती है तथा कीमतें बढ़ती हैं तो फिर अनाज का आयात करती हैं, वह भी उस सड़े हुए अनाज का जो जानवरों के खाने लायक भी नहीं होता। आयात-निर्यात के इस खेल में करोड़ों रुपयों का वारा-न्यारा होता है।

महँगाई बढ़ने का एक गौण कारण कृषि क्षेत्र के उत्पादन में होने वाली कमी है। हालाँकि यह कभी भी तात्कालिक नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पादन के मुकाबले न तो जनसंख्या रातोंरात 50 प्रतिशत बढ़ सकती है न ही लोगों की क्रयशक्ति।

नई आर्थिक नीतियों के बाद से ही कृषि क्षेत्र की विकास दर कम रही है तथा सकल विकास दर के बढ़ने के बावजूद रोजगार में भी वृद्धि कम ही हुई है। देश की 60 प्रतिशत आबादी अभी भी कृषि क्षेत्र पर निर्भर है। कृषि क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों तथा औद्योगिक क्षेत्र एवं सेवा क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों की आय बढ़ने की संभावना बहुत कम है। इसलिए क्रयशक्ति के बढ़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता। असली कारण तो यह है कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था पर भूमंडलीकरण का दबाव बढ़ता गया, खेतों में खाद्य पदार्थों की जगह गैर-खाद्य पदार्थों के उगाने पर बल दिया जाने लगा। सरकार ने कृषि क्षेत्र की मूलभूत आवश्यकताओं की तरफ ध्यान देना तो बंद ही कर दिया। सरकार की अवरचनागत-निवेश कृषि क्षेत्र में नहीं, बल्कि उन क्षेत्रों में अधिक हुआ जो आधुनिक वैश्वीकृत पूँजीवाद की जरूरत के अनुरूप हैं।

सरकार का यह भरसक प्रयास रहा है कि हमारे किसान बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की माँगों के अनुरूप उत्पादन करें। वे खाद्य पदार्थों के बजाय जैव-ईंधन एवं गैरजरूरी पदार्थों का उत्पादन करें जैसे अंग्रेजों के जमाने में हमारे किसान नील की खेती किया करते थे। इसलिए महँगाई और कुछ नहीं, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ही पैदा की हुई डायन है जिसे राजनेताओं और व्यवस्था का समर्थन प्राप्त है। और हो भी क्यों नहीं, हमारे शासक वर्ग राजनेता तथा नौकरशाह, दोनों का व्यक्तिगत हित इसमें है। हाँ, पीड़ित है तो देश की 80 प्रतिशत आबादी, जिसकी आमदनी सीमित है और जिसकी आय में जड़ता है।

लोगों की खरीदने की क्षमता महँगाई बढ़ने के साथ ही और भी कम होती गयी है और भोजन की थाली से पोषक तत्त्व गायब हो गये हैं। घरों से बच्चों के बस्ते और किताबें गायब होती जा रही हैं। बीमारी की अवस्था में इलाज कराने की क्षमता खत्म हो गयी है। इसलिए समाज के गरीब वर्ग को शासक वर्ग राहत नहीं पहुँचा सकता। विरोधी दल महँगाई के मुद्दे पर बंद करायें या संसद में हंगामा करें, गरीबी दूर करने का प्रयास नहीं कर सकते। महँगाई के वास्तविक कारणों पर प्रहार नहीं कर सकते। सत्ताधारी मौद्रिक और राजकोषीय उपायों को अपनाने का मात्र दिखावा ही कर सकते हैं। इसलिए सत्ताधारी तथा विरोधी, दोनों महँगाई के मुद्दे पर जनता को बरगलाने की कोशिश तो कर सकते हैं, पर जनता को महँगाई से निजात नहीं दिला सकते हैं, क्योंकि संसद में बैठे राजनेताओं का हित पूँजीपतियों के साथ जुड़ा है न कि भूखी-बिलखती जनता के साथ।

अगर जनता चाहती है कि महँगाई जैसी समस्या का वास्तविक समाधान हो तो उसे वर्तमान व्यवस्था को बदलना होगा और उसके स्थान पर ऐसी व्यवस्था कायम करनी होगी जो 80 प्रतिशत जनता के हितों के अनुरूप कार्य करे। साथ ही इस दानव की नाभि में आईएमएफ और विश्व व्यापार संगठन जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ हैं, जो अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देश के इशारे पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अल्प विकसित देशों में प्रसार करने में सहायता देती हैं। इन संस्थाओं की साहूकारी नीतियों को खत्म किये बिना इस दानव का समूल नाश नहीं हो सकता। यदि महँगाई डायन को खत्म करना है तो राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी संघर्ष करना होगा और पूँजीवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद का भी अंत करना होगा। ❑

पॉस्को की विनाश-लीला, जनता का प्रतिरोध और सरकार के जालिम तेवर

❑दीप्ति

पिछले 15 मई को उड़ीसा के जगतसिंहपुर जिले में पॉस्को-इण्डिया की इस्पात परियोजना के लिए जमीन अधिग्रहण के विरोध में प्रदर्शन कर रहे लोगों पर पुलिस ने बर्बर लाठी चार्ज तथा फायरिंग की। इसके परिणामस्वरूप 100 लोग गम्भीर रूप से घायल हो गये। इनमें 60 महिलाएँ भी थीं।

26 जनवरी से धनकिया तथा आसपास के हजारों ग्रामीण बलिथिया के सड़क पर धरना दे रहे थे और पॉस्को इण्डिया के किसी भी अधिकारी को परियोजना स्थल पर नहीं जाने दे रहे थे। पॉस्को प्रतिरोध संग्राम समीति के अनुसार पुलिस और प्रशासन ने इस तरह बर्ताव किया, जैसे वे पॉस्को के कर्मचारी हों। उन्होंने औरतों-बच्चों सहित सभी प्रदर्शनकारियों को निर्दयतापूर्वक पीटा और 5 महिलाओं सहित कुल 15 लोगों को गिरफ्तार किया। पुलिस ने उस धरना स्थल को भी जला दिया जहाँ प्रदर्शनकारी पिछले चार महीनों से प्रदर्शन कर रहे थे।

20 अक्टूबर 2007 को उड़ीसा के मुख्यमन्त्री नवीन पटनायक ने पॉस्को के शीर्ष अधिकारियों को आश्वस्त किया था कि केन्द्र सरकार इस परियोजना के प्रति गम्भीर है और उन्हें हर तरह से सहायता करने के प्रति वचनबद्ध है। इसी के बाद कम्पनी के मुख्य कार्यकारी अधिकारी ने यह घोषणा की थी कि अप्रैल 2008 को अपनी 40 वीं वर्षगाँठ पर कम्पनी भारत में निर्माण का काम शुरू करेगी। लेकिन स्थानीय जनता के धैर्यपूर्ण संघर्ष के चलते अभी तक उनके मंसूबे पूरे नहीं हो पाये हैं।

देश में अब तक के सबसे बड़े विदेशी निवेश और 1 करोड़ 20 लाख टन इस्पात उत्पादन क्षमता वाले, पर्यावरण विनाश और विस्थापन का पर्याय बन चुके इस कारखाने को शुरू से ही वहाँ की जनता के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ रहा है। इसी कारण परियोजना के लिए भूमि अधिग्रहण और खनन के पट्टे का काम अभी तक खटाई में पड़ा हुआ है। अक्टूबर में ही जगतसिंहपुर इलाके के गाँववासियों ने पॉस्को के चार अधिकारियों को बंधक बना दिया था, जिन्हें बाद में रिहा कर दिया गया था।

कम्पनी द्वारा इस्पात संयन्त्र लगाने के साथ-साथ प्रदर्शनकारी निजी बंदरगाह बनाने के भी खिलाफ हैं जिसका पाराद्वीप बंदरगाह पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने वाला है। इसके अलावा पॉस्को की यह भी योजना है कि उड़ीसा खनन निगम से अयस्क खरीदने के बजाय वह लौह अयस्क खदानों को ही अपने कब्जे में कर ले।

पॉस्को द्वारा महानदी बैराज से पानी निकालने का भी प्रस्ताव है, जो क्षेत्र की सिंचाई व्यवस्था को गम्भीर रूप से प्रभावित करेगा तथा इस क्षेत्र में पर्यावरणीय संतुलन को नुकसान पहुँचायेगा। परन्तु इन सभी मुद्दों को नजरअन्दाज करते हुए केन्द्र तथा राज्य सरकार पॉस्को को भरपूर मदद कर रही है।

एक ओर उड़ीसा में भुखमरी और कुपोषण चरम सीमा पर है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक वहाँ की लगभग 40 प्रतिशत जनता गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही हैं। लेकिन दूसरी तरफ निवेश के सबसे अधिक प्रस्ताव भी इसी राज्य को मिले हैं। कोयला और लौह अयस्क की प्रचुरता और सस्ते श्रम की उपलब्धता के कारण देशी-विदेशी पूँजीपतियों की गिद्ध-दृष्टि उनका दोहन करने पर टिकी है। यही कारण है कि 2009 तक वहाँ 2,00,846 करोड़ रुपये के निवेश समझौते हो चुके थे।

पोहांग लौह और इस्ताल कम्पनी (पॉस्को) परियोजना के तहत केओझर और सुन्दरगढ़ जिले में लौह अयस्क खादानों का अधिग्रहण, जगतसिंहपुर जिले और तटवर्तीय क्षेत्रों में इस्पात के कारखाने लगाना तथा इस्पात संयन्त्र क्षेत्र के नजदीक जटाधारी नदी के मुहाने पर निजी बन्दरगाह का निर्माण किया जायेगा। इसमें से लगभग 6,000 एकड़ के लौह खादानों का पट्टा स्वीकृत भी हो गया है।

खांधाधार लौह अयस्क खदान के लिये उड़ीसा सरकार ने विपक्षी पार्टियों, अन्य संगठनों तथा स्थानीय लोगों के विरोध के बावजूद कम्पनी को 2500 एकड़ जमीन का पट्टा दिया है, जबकि इस क्षेत्र के जल स्रोतों पर पहले से मौजूद लौह खदानों का ही गम्भीर दुष्प्रभाव पड़ा है। प्रस्तावित खदान क्षेत्र

में जलस्रोतों के नाम पर केवल झरने हैं, जो लौह अयस्क के सम्पर्क में आने से दूषित हो चुके हैं। इसके कारण उनका पानी पीने योग्य नहीं रह गया है। केन्द्रीय भूमिगत जल बोर्ड की एक रपट के मुताबिक जोड़ा और बारबिल नदियों का जल स्तर अपने स्वाभाविक स्तर से 4 मीटर नीचे चला गया है। अनुमान है कि इस क्षेत्र के चालीस प्रतिशत हिस्से में लगे 8,000 ट्यूबवैल अब ज्यादा लम्बे समय तक काम नहीं कर पायेंगे। सिंचित भूमि के लगभग आधे से ज्यादा हिस्से की सिंचाई भी खांधाधार जल प्रपात से लम्बे समय तक नहीं हो पायेगी।

पॉस्को परियोजना मध्य भारत में एक मात्र बचे हरे भरे जंगली इलाके को भी बर्बाद कर देगी। सरकार ने पॉस्को संयन्त्र को प्रतिवर्ष 7,000 करोड़ लीटर पानी की सुविधा देने का वायदा किया है, जबकि उड़ीसा सीमित जल स्रोतों वाला एक सूखाग्रस्त राज्य है।

पॉस्को को हमेशा एक दक्षिण कोरियाई कम्पनी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो सरासर धोखा है। सच्चाई यह है कि पॉस्को का मालिकाना और नियंत्रण साम्राज्यवादी देश अमरीका के हाथों में है। इस कम्पनी को अमरीकीयों ने कैसे हड़पा, इसकी कहानी कुछ इस तरह है। वालस्ट्रीट के सटोरियों और जार्ज सोरोस के कारनामों के चलते 1997-1998 में जो एशियाई वित्तीय संकट आया था, उसने दक्षिण कोरियाई मुद्रा को ध्वस्त कर दिया था। मदद के लिए दक्षिण कोरिया ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष से गुहार लगायी। मुद्राकोष ने दक्षिणी कोरिया को ढाँचागत सुधार, सार्वजनिक खर्च में कटौती, अपने वित्तीय क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिए खोलने और कर्ज संतुलन की कठोर शर्तें उस पर थोप दी।

इतना ही नहीं जब दक्षिण कोरिया आर्थिक संकट से बेहाल था तो अमरीकी वित्त विभाग ने उसकी सहायता करने से इन्कार कर दिया। दक्षिण कोरिया को अपने प्रमुख सरकारी उद्योगों को कौड़ियों के भाव अमरीका को बेचना पड़ा। इसमें सबसे पहले जो कम्पनी बेची गयी, वह पॉस्को थी। आज पॉस्को के शेयर दक्षिण कोरिया से ज्यादा अमरीका के पास हैं। इसका सबसे बड़ा हिस्सेदार अमरीकी बैंक सिटी ग्रुप है। इसने 1998 में पॉस्को के जो शेयर 10 अमरीकी डॉलर प्रति शेयर के भाव से खरीदे थे, आज उसकी कीमत 110 अमरीकी डॉलर प्रति शेयर है।

साम्राज्यवादी देशों की हितैषी विश्व बैंक और मुद्रा कोष जैसी लुटेरी संस्थाओं का यही तरीका है। 1991 में भारत की संकटकालीन अर्थव्यवस्था को उबारने के नाम पर ऐसी ही शर्तें हमारे देश पर भी थोपी गयी थीं। वैश्वीकरण, उदारीकरण की उन्हीं नीतियों का नतीजा है कि अपने देश के पर्यावरण विनाश की कीमत पर भी पॉस्को और तमाम ऐसी ही परियोजनाओं को सरकार खुली छूट दे रही है।

पॉस्को विरोधी आन्दोलन में शामिल जो जनता दक्षिण कोरिया के पॉस्को प्रबन्धकों, उड़ीसा के नेताओं या चिदम्बरम की पुलिस का मुकाबला कर रही है, उसे यह जानना जरूरी है कि इनके पीछे सीटीकोर्प और अमरीकी वित्तीय विभाग के हाथ हैं। भारतीय शासकों की अमरीका परस्ती को देखते हुए इस परियोजना के वापस किये जाने की सम्भावना काफी क्षीण है, वरना जिन तर्कों के आधार पर हाल ही में वेदान्त परियोजना को रद्द किया गया, उन्हीं आधारों पर पॉस्को को बहुत पहले रफा-दफा कर दिया जाना चाहिए था।

पर्यावरण मन्त्री जयराम रमेश का मानना है कि पॉस्को को दी गयी मंजूरी अवैध है क्योंकि यह वन अधिकार कानून का उलंघन करती है। लेकिन केन्द्र सरकार ने एक पूर्व अधिकारी शाह की अध्यक्षता में एक कई कमेटी गठित की है जो उद्योग समर्थक हैं और जिनसे पॉस्को परियोजना की मंजूरी मिलने की सम्भावना है।

पॉस्को परियोजना सरकार के लिए भी गले की फाँस बन चुकी है। सरकार के लिए पॉस्को विरोधी जनान्दोलन को 'माओवादी' घोषित करके बदनाम करना और बर्बर दमन करना कठिन है, क्योंकि भारी संख्या में आम जनता, स्वयंसेवी संगठन, मानव अधिकार संगठन इस आन्दोलन में शिरकत कर रहे हैं। 15 मई को हुए बर्बर पुलिस दमन के बाद 6 विपक्षी पार्टियों ने भी आन्दोलन का सर्मथन किया है। ऐसे में सरकार रणनीतिक तौर पर आन्दोलनकारियों को थका कर आन्दोलन तोड़ने का प्रयास कर रही है, ताकि निराशोन्माद में आन्दोलन उग्र रूप धारण कर ले और फिर इसी बहाने सरकार हिंसात्मक दमन की कार्रवाई तेज कर सके। व्यापक जनान्दोलनों का दमन करने के लिए सरकार अब ऐसी ही रणनीति अपना रही है।

पॉस्को परियोजना में एक बात साफ है कि सरकार की पक्षधरता जनता के साथ नहीं है, बल्कि वह देशी-विदेशी पूँजी का आँख मूँद कर साथ दे रही है। ❑

(यह लेख मासिक पत्रिका एनालिटिकल मंथली रिव्यू के फरवरी 2010 अंक के सम्पादकीय की सहायता से तैयार किया गया है। इसके लिए हम पत्रिका के सम्पादक के आभारी हैं)।

भारतीय चिकित्सा शिक्षा का पतन

❑नवनीत

देश की चिकित्सा-शिक्षा की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर उठाने वाली संस्था भारतीय चिकित्सा परिषद एक गम्भीर बीमारी से ग्रसित थी। उसके अंग-प्रत्यंग सड़ रहे थे। वह गले तक भ्रष्टाचार में डूबी पायी गयी। 22 अप्रैल 2010 को इसके अध्यक्ष केतन देसाई की गिरफ्तारी हुयी, छापे में उनके पास से 1.5 किलो सोना, 80 किलो चाँदी, होम फाइनेंस कम्पनी में 20 लाख रुपये, रियल एस्टेट में एक प्लॉट और शॉपिंग मॉल में एक स्थायी सम्पत्ति बरामद हुई। मौके पर ही कुल 24 करोड़ की सम्पत्ति पायी गयी। छिपी हुई सम्पत्तियों की तो कोई गिनती ही नहीं।

भारतीय चिकित्सा परिषद में भ्रष्टाचार के भण्डाफोड़ और सीबीआई द्वारा उसके अध्यक्ष केतन देसाई की गिरफ्तारी के बाद इस संस्था को भंग कर दिया गया और इसकी जगह सात सदस्यीय संचालक मण्डल का गठन कर दिया गया। अब 'राष्ट्रीय उच्च शिक्षा एवं शोध परिषद' विधेयक लाकर उसमें चिकित्सा शिक्षा को भी सम्मिलित करने तथा चिकित्सा शिक्षा और व्यवसाय सम्बन्धी एक सर्वोच्च निकाय बनाने की भी तैयारी चल रही है। इस निकाय की अन्तर्वस्तु का विश्लेषण करना आवश्यक है।

भारतीय चिकित्सा परिषद में भ्रष्टाचार अपने आप में कोई अकेली चीज नहीं है। यह इस व्यवस्था के भ्रष्ट, अमानवीय और मुनाफाखोर चरित्र की एक और अभिव्यक्ति मात्र है। चिकित्सा परिषद के खुलासे से एक बार फिर इस जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था की कलई खुल गयी है और अब व्यवस्था की पैबन्दसाजी के नये-नये नुस्खे भी सामने आने लगे हैं।

चिकित्सा शिक्षा के ऊपर देश के भावी स्नातक (एमबीबीएस) और स्नातकोत्तर (एमडीएमएस) डॉक्टरों के निर्माण की जिम्मेदारी होती है, जिसे वह देश की जरूरतों के अनुरूप पूरी करने में अभी तक नाकाम रही है। स्वास्थ्य किसी भी व्यक्ति का मूलभूत अधिकार है। हर व्यक्ति अपनी आर्थिक-सामाजिक हैसियत के हिसाब से अपनी स्वास्थ्य रक्षा के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है। देश की बड़ी आबादी की इसी मूलभूत आवश्यकता ने निजी क्षेत्र के मुनाफाखोरों को इस पवित्र क्षेत्र में मुनाफे का नंगा नाच करने के लिए प्रेरित किया। सरकार ने भी अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़कर इन्हें फूलने-फूलने का भरपूर मौका दिया। इन मुनाफाखोरों का लक्ष्य सिर्फ अपनी तिजोरी भरना होता है, जनता की सेवा करना नहीं। मुनाफाखोर अपनी इसी हवस को पूरा करने के लिए चिकित्सा परिषद जैसी सर्वोच्च संस्था को भ्रष्ट करके कानून की धज्जी उड़ाते हुए मेडिकल कॉलेज खोलने और लूट-खसोट करने की इजाजत ले लेते है।

भारतीय चिकित्सा परिषद का गठन 1956 में संसद में कानून बनाकर, एक स्वयत्तशासी संस्था के रूप में किया गया था। इसका कार्य मेडिकल कॉलेज खोलने की शुरुआती अनुमति और मान्यता प्रदान करना था। साथ ही, शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करना, देश की स्वास्थ्य सम्बन्धी जरूरतों के मुताबिक पाठ्यक्रम में सुधार करना, पारदर्शी परीक्षा प्रणाली का निर्मण करना आदि भी इसी संस्था के जिम्मे था।

इस संस्था में सबसे ज्यादा धाँधली मेडिकल कॉलेज खोलने की अनुमति देने और उसे मान्यता प्रदान करने में होती है। चिकित्सा परिषद के मानदण्ड काफी कड़े होते हैं, जिनके अनुरूप आधारभूत ढाँचा खड़ा करने में मोटी रकम खर्च करने की आवश्यकता होती है। इन भारी खर्चों से बचने के लिए प्रभावशाली लोग अपने राजनीतिक प्रभावों और रिश्वत का इस्तेमाल करके अनुमति और मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। सबसे गन्दा खेल तो मान्यता प्राप्त करने के दौरान होता है। निजी मेडिकल कॉलेज मान्यता प्राप्त करने के लिए, सर्वेक्षण के दौरान कुछ दिनों के लिए कुछ हजार रुपये देकर किराये के चिकित्सक और शिक्षक जुटा लेते हैं और कुछ लाखों रुपये का सालाना खर्च बचा कर मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। सर्वेक्षण के बाद ये डॉक्टर अपने-अपने घर चले जाते हैं। अस्पताल के मरीज और कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र भगवान भरोसे रह जाते हैं। इन कॉलेजों में सुविधाभोगी अमीरजादे ही पढ़ने आते है जो प्रतियोगिता परिक्षाओं में सबसे निचली पायदान पर होते हैं। इन्हें परीक्षा में पास कराने का सिरदर्द भी निजी मेडिकल कॉलेज प्रशासन का होता है। चूँकि मेडिकल कॉलेजों की परीक्षा की कापियाँ मेडिकल कॉलेज में ही जाँची जाती हैं, इसलिए आसानी से इन छात्रों को डिग्री

मिल जाती है और कॉलेज का रिजल्ट भी बेहतर हो जाता है।

हमारे देश के मेडिकल कॉलेजों में जो पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है उनमें विदेशी रोग, विदेशी रोगियों के ब्योरे और आँकड़े होते हैं। भारतीय रोगियों की आवश्यकता के अनुसार यहाँ पायी जाने वाली बीमारियों के उदाहरण कम ही होते हैं, क्योंकि पाठ्यक्रम और पुस्तकें विदेशों से आयातित होती हैं। जिन रोगों से पीड़ित लोगों की संख्या भारत में बहुतायत में होती है विदेश में उनकी संख्या बहुत कम होती है। साथ ही जन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम होता है। भारत में अधिकांश निजी और सरकारी मेडिकल कॉलेजों में शिक्षकों की संख्या बहुधा कम होती है। एक उपाय सुझाया जा रहा है कि मेडिकल कॉलेजों में भारतीय चिकित्सा परिषद या विश्वद्यिालय द्वारा नियमित अन्तराल पर औचक निरीक्षण करके इस कमी को दूर किया जा सकता है। लेकिन सुझाव पेश करने वाले शायद यह भूल जाते हैं कि यह नुस्खा पुराना पड़ चुका है। निरीक्षण करने वाले भी इसी लालची व्यवस्था की पैदाइश हैं। किसी भी तरह के लालच, दबाव या प्रभाव से उनकी जबान पर ताला लगाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

बहुमुखी प्रतिभा वाले डॉक्टरों की तैयार करने के लिए फेमिली मेडिसिन जैसे विषयों की पढ़ाई बेहद जरूरी है जो प्राथमिक स्तर पर अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह कर सकें और स्वेच्छा से पिछड़े इलाकों में सेवा कर सकें। लेकिन आज के दौर में जहाँ निजी चिकित्सकों तथा मेडिकल कॉलेज के प्रोफेसरों की लाखों रुपये महीने की प्रेक्ट्रिस करने की खुली छूट मिली हुई है और जिस समाज में दौलत ही मान-सम्मान का पैमाना है, ईमानदारी और मेहनत की कमाई पर गुजर-बसर करने वाले को बेवकूफ समझा जाता है, वहाँ चिकित्सक आदर्श से प्रेरित होकर दूर-दराज के इलाकों में सेवा करने जायेंगे? यह ठीक है कि पिछड़े इलाकों में ट्रेनिंग अनिवार्य करने से हालात में कुछ सुधार होगा, लेकिन देश की इतनी बड़ी आबादी के लिए यह स्थायी समाधान नहीं होगा। देश के नामी-गिरामी संस्थानों में से सम्मानित और प्रतिभाशाली चिकित्सकों तथा प्रोफेसरों का निजी क्षेत्रों में पलायन निरन्तर जारी हैं। सरकार इनका जितना भी वेतन-भत्ता बढ़ाती है, उससे अधिक सुविधाएँ और तनख्वाह देकर पूँजीपति उन्हें खरीद लेते है। निजी अस्पताल अधिक सुविधा के नाम पर मरीजों से भी कई-कई गुना फीस वसूलते हैं। इससे पैसे वालों को तो बेहतर इलाज मिल जाता है, लेकिन सरकारी अस्पतालों में जाने वाली अधिकांश जनता इन तजुर्बेकार चिकित्सकों से वंचित रह जाती है जिन्हें जनता के पैसे और सरकार की मेहरबानी से ही शिक्षा और तजुर्बा प्राप्त होता है। लेकिन सरकार चुपचाप तमाशा देखती रहती है।

प्रस्तावित चिकित्सा शिक्षा और प्रेक्टिस सम्बन्धी परिषद (एनसीएचआरएच) में मरीजों के हिमायती समूह (पेशेन्ट्स एडवोकेसी ग्रुप) समाजशास्त्री, और स्वास्थ्य कर्मियों की भागीदारी होना एक बेहतर कदम होगा। इसमें नर्सिंग, डेन्टल, फार्मेसी, पैरामेडिकल, जन स्वास्थ्य और पुनर्वास सेवाओं को एक साथ मिलाने से बेहतर तालमेल की स्थिति होगी।

कहा जा रहा है कि सरकार के साथ काउंसिल के सम्बन्धों में स्वायत्तता और आजादी महत्त्वपूर्ण मुद्दा है क्योंकि किसी भी निर्णय के लिए सरकार पर इसकी निर्भरता से इसकी भूमिका सीमित होगी तथा फैसलों को लागू करने में देरी होगी। लेकिन सरकार और नेताओं के दबावों से यह काउंसिल कैसे मुक्त रह सकती है जबकि इस काउंसिल के एक-एक सदस्य को सरकार ही नियुक्त करेगी। पूरे देश में एक समान शिक्षा व गुणवत्ता लागू करना एक सकारात्मक कदम होगा लेकिन यह तभी सम्भव है जब सभी कॉलेजों को एक समान नियमों से संचालित किया जाये और नियम लागू न करने वाले कालेजों की मान्यता समाप्त कर दी जाये। यह व्यवहार में कितना लागू होगा यह तो समय ही बताएगा।

एक समान गुणवत्ता की कसौटी है सभी कॉलेजों में एक समान पाठ्यक्रम, एक ही परीक्षा पद्धति, और कॉलेजों के बाहर कापियों की जाँच। ये सभी उपाय चिकित्सा शिक्षा में तो कुछ सुधार कर सकते हैं, लेकिन सरकारी और निजी मेडिकल कॉलेजों की दोहरी व्यवस्था के रहते चिकित्सा पेशा से धनलोलुपता को समाप्त नहीं किया जा सकता। चिकित्सा को सेवा की जगह कमाई का जरिया बनाये रखते हुए कोई भी कानून या नियमावली भावी डाक्टरों के अन्दर पलने वाली लोभ-लाभ की मानसिकता को बदलने में नाकाम ही साबित होगी, खासकर उन छात्रों की जो मोटी रकम खर्च करके डिग्री लेने और मोटी रकम कमाने के लिए ही डाक्टर बनना चाहते है, जनता और देश की सेवा करने के उद्देश्य से नहीं।

आज मेडिकल कॉलेज उन्हीं इलाकों में खोले जा रहे है जहाँ मोटी फीस देने वालों की संख्या अधिक हो। सुविधा-सम्पन्न और समृद्ध क्षेत्रों में एक से अधिक कॉलेज होने से वहाँ प्रति हॉस्पिटल मरीजों की संख्या घट जाती है। इसके कारण सीखने वाले छात्रों को कम रोगी देखने की मिलते हैं। साथ ही पिछड़े इलाके के मरीज भी मेडिकल कॉलेज न होने के चलते बेहतर

स्वास्थ्य-सेवाओं से वंचित रह जाते हैं। मोटी फीस के कारण पिछड़े इलाकों के गरीब छात्र इस शिक्षा से वंचित्र रह जाते है, जबकि ऐसे छात्रों द्वारा पिछड़े इलाकों में प्रेक्टिस करने की सम्भावना सबसे अधिक होती है।

अधितर चिकित्सकों का रुझान सेवा से हटता जा रहा है। इसका कारण भिन्न-भिन्न सरकारी व निजी क्षेत्रों में समान सेवाएँ प्रदान करने वाले समान डिग्री धारकों के बीच का असमान वेतन, और उनमें भविष्य की असुरक्षा का बढ़ता खतरा उदाहरण के लिए एमबीबीएस की एक ही डिग्री वाले डाक्टरों को, जूनियर रेजिडेन्ट, मेडिकल आफिसर और आर. एम.ओ. आदि अलग-अलग पद देकर उनकी तनख्वाह में काफी फर्क रखा जाता है तथा इस व्यवस्था में उनके भविष्य के रोजगार की कोई गारण्टी नहीं होती। बीएएमएस बीयूएमएस, बीएचएमएस, डाक्टरों को तो मुख्य धारा का डाक्टर समझा ही नहीं जाता तथा उनके लिए रोजगार के अवसर और भी कम होते हैं। साथ ही इन विषयों में रिसर्च का बहुत ही बुरा हाल है। जब इस देश की सरकार उनके विश्वास के नहीं जीत पायी तो वे भला देश और देशवासियों की निःस्वार्थ सेवा कैसे कर सकते हैं। सभी डिग्री धारक चिकित्सकों के समान वेतन व रोजगार के समान अवसर देना आवश्यक है।

बेहतर चिकित्सा शिक्षा का उद्देश्य बहुसंख्यक आबादी के लिए उच्च स्तर की चिकित्सा सेवा प्रदान करने वाले चिकित्सक तैयार करना होगा लेकिन जिस समाज में सभी वस्तुओं की तरह स्वास्थ सेवा भी खरीदने और बेचने की वस्तु बन गयी हो और देश में अमीरों की तुलना में गरीबों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही हो, तो जाहिर है कि स्वास्थ्य सेवा खरीदने वालों की दौड़ में बहुसंख्यक गरीब आबादी पिछड़ जायेगी।

आम तौर पर लोगों में यह धारणा बैठा दी गयी है कि सबके लिए एक समान उच्च स्तर की चिकित्सा सेवा उपलब्ध कराना सम्भव नहीं है, कि चिकित्सकों की धन लोलुपता स्वाभाविक मानवीय गुण है, कि बीमार और मरणासन्न लोगों की मजबूरी का फायदा उठा कर मालामाल होना जायज है और दूसरे किसी भी धन्धे की तरह यहाँ भी मुनाफाखोरी उचित है। लेकिन इन सभी धारणाओं को झूठा साबित करते हुए क्यूबा ने न केवल अपने देश की जनता के लिए, बल्कि अपने पड़ोसी देशों के लिए भी बेहतर से बेहतर और बिल्कुल मुफ्त चिकित्सा सेवा उपलब्ध करायी है। क्या क्यूबा का बहुजनहितकारी मॉडल पूरी दुनिया में नहीं अपनाया जाना चाहिए?

आज यक्ष प्रश्न यही है कि समाज के रोम-रोम में व्याप्त लोभ-लाभ और चरम स्वार्थ की मानसिकता का अन्त कैसे हो तथा दिनोंदिन बढ़ती अमीरी और गरीबी के बीच की खाई को कैसे पाटा जाये। जब तक असमानता, अनैतिकता और अन्याय हमारा समाज व्यवस्था की चालक शक्ति बने रहेंगे तब तक हर्षद मेहता के साथ-साथ केतन देसाई भी पनपते रहेंगे और चिकित्सा सेवा में सुधार महज कपोल कल्पना ही साबित होगी। आज जरूरत इस पूरे सामाजिक आर्थिक ढाँचे को बदलने की है। ❑

गुलामी को वैध ठहराने वाले कानूनों की झड़ी

बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट (2000), सैम पेत्रोदा की ज्ञान आयोग रिपोर्ट और यशपाल कमेटी की रिपोर्ट आने के बाद से ही उच्च शिक्षा में विदेशी पूँजी को बढ़ावा देने का जो सिलसिला शुरू हुआ था उसकी रफ्तार तेज हो गयी है। केन्द्र सरकार ने उच्च शिक्षा पर देशी-विदेशी पूँजी के हमले को न्याय संगत ठहराने और उसे तेज करने के लिए 4 नये कानून संसद में पेश किये हैं

1. विदेशी शिक्षण संस्थान (प्रवेश और संचालन का नियमन) कानून, 2010,
2. शिक्षा न्यायाधिकरण कानून, 2010,
3. तकनीकी शिक्षण संस्थानों, चिकित्सा शिक्षण संस्थानों और विश्वविद्यालयों में अनुचित व्यवहार निषेध कानून, 2010 तथा
4. उच्च शिक्षण संस्थानों के लिए राष्ट्रीय मान्यता नियमन कानून, 2010।

इनके अलावा उच्च शिक्षा और शोध हेतु एक राष्ट्रीय आयोग गठित करने के लिए भी कानून बनाया जायेगा। इन कानूनों का मकसद निजी/विदेशी विश्वविद्यालयों को आसानी से प्रवेश की अनुमति देना है। उच्च शिक्षा को मुनाफे का धन्धा बनाने और गरीबों की सन्तानों को शिक्षा से वंचित कर उन्हें गुलामी की बेड़ियों में जकड़ने के लिए सरकार जो कदम उठा रही है, वह देश के पूर्ववर्ती कानूनों और संविधान की मूल भावना के विरुद्ध है। इसलिए यह जरूरी हो गया कि सरकार अपनी जनविरोधी नीतियों को वैध ठहराने के लिए गुपचुप तरीके से नये-नये कानून बनाये। मीडिया में या सर्वाजनिक जीवन में इन काले कानूनों की कहीं चर्चा भी सुनायी नहीं देती।

कठघरे में भारतीय न्याय व्यवस्था

❑बुद्धेश

2 दिसम्बर 1984 को भोपाल में एक अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी यूनियन कार्बाइड में हुए गैस-रिसाव से 20,000 लोग मारे गये थे और हजारों अन्य घयाल हुए थे। लाखों लोग आज भी उसका दुष्प्रभाव झेल रहें हैं और अपाहिज की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त हैं। इस 'नरसंहार' के खिलाफ फैसला करने में भारतीय न्यायपालिका को 26 वर्ष लग गये। और फैसला भी क्या दिया गया! दो साल जेल की ''कठोर'' सजा जो सड़क दुर्घटना में दी गयी सजा के बराबर है।

समाज के बौद्धिक, जागरूक और संवेदनशील लोग ''न्यायिक सक्रियता'' के नाम पर कभी भारतीय न्यायव्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तो कभी भोपाल गैस त्रासदी जैसी घटनाओं पर न्यायालय के रुख से दुखी हो जाते हैं, इस तरह वे भारतीय लोकतन्त्र से ही निराश हो जाते हैं। कई लोगों ने भोपाल गैस त्रासदी को काफी भयानक हादसा मानते हुए इस मामले में अदालत के व्यवहार की आलोचना की है। जहाँ कई लोग लोकतन्त्र को बचाने तथा न्यापालिका में जनता का विश्वास बहाल करने के लिए थोक भाव से नीम-हकीमी नुस्खे सुझा रहे हैं, वहीं कुछ लोगों ने भारतीय न्यायप्रणाली और भारतीय न्याय व्यवस्था पर ही अंगुली उठायी है और इसकी पक्षधरता पर भी सवाल खड़े किये हैं।

पिछले कुछ वर्षो से भारतीय न्यायव्यवस्था में जनता का विश्वास कम हो गया है। 9 राज्यों के 29 शहरों में सवा लाख लोगों में किये गये एक सर्वेक्षण में 75 प्रतिशत लोगों ने कहा है कि भारतीय न्यायप्रणाली पर उन्हें कोई भरोसा नहीं रह गया है। आजादी के बाद जिस नये भारत का निर्माण हुआ उसमें संसद की सर्वोच्चता के बावजूद न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की सिर्फ इसीलिए वकालत की गई थी कि न्यायपालिका आम लोगों के अधिकारों की सुरक्षा करेगी और उनके मूल अधिकारों को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के हमलों से बचायेगी। लेकिन इसी मुद्दे पर न्यायालय ने ज्यादा निराश किया है। मशहूर वकील प्रशान्त भूषण के अनुसार हमारे देश में आज बमुश्किल 2 प्रतिशत लोगों को ही न्यायालय से न्याय की उम्मीद है। बाकी 98 प्रतिशत जनता न्यायालय की परिधि से बाहर ही है। लम्बे समय तक मुकदमों का निस्तारण नहीं होता। तारीख पर तारीख मिलते रहने से न्याय काफी महँगा हो जाता है। कई मुकदमे तो कई-कई पीढ़ियों तक जारी रहते हैं। आमतौर पर देखा गया है कि पैसे वाले और सक्षम व्यक्ति मुकदमा जीत जाते हैं तथा गरीब और निर्बल लोग हाथ मलते रह जाते हैं। ऐसे में न्याय व्यवस्था पर आम आदमी का भरोसा कैसे सम्भव है?

मुकदमे के निस्तारण में देरी और खर्चीला होता न्याय

भोपाल गैस त्रासदी का मुकदमा 26 वर्ष चला। आयोध्या में मस्जिद गिराये जाने से सम्बन्धित मुकदमा 18 साल बाद भी जारी है। 1984 में सिख समुदाय पर हुए भयानक हमले के लिए दोषी खोजने का काम अभी पूरा नहीं हुआ है। बैडमिण्टन खिलाड़ी रुचिका को आत्महत्या की ओर धकेलने वाले पुलिस अधिकारी राठौर पर 19 वर्ष तक मुकदमा चला। गुजरात दंगे के आरोपियों का अब तक कुछ नहीं बिगड़ा है। ये कुछ चर्चित मुकदमे हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने खुद ही स्वीकार किया है कि 31 मार्च 2009 तक जिला न्यायालय से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक 3 करोड़ 7 लाख से भी अधिक मुकदमे लम्बित हैं, जिन्हें निबटाने में (अगर कोई नया मुकदमा हाथ में नहीं लिया गया तो) 464 वर्ष लगेंगे। ऐसे में न्याय कैसे मिलेगा? केस लड़ते हुए हौसले पस्त हो जाते हैं, लोग टूट जाते हैं, उनके घर-खेत, जमीन-जायदाद सब बिक जाते हैं। कई मुकदमे कई पीढ़ियों तक चलते देखे गये हैं। क्या इसे ही न्याय कहते हैं! कहते है कि समय से न्याय नहीं मिलना अन्याय है। साल दर साल न्याय के लिए भटकता, तारीख दर तारीख कोर्ट-कचहरी का चक्कर लगाता आम आदमी न्याय व्यवस्था से भला क्यों क्षुब्ध न हो?

न्यायालय में भ्रष्टाचार

राज्य सभा के 75 सदस्यों ने कर्नाटक उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के विरुद्ध 55 पृष्ठों का एक महाभियोग प्रस्ताव पेश किया है। 13 अगस्त 2008 को पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के चण्डीगढ़ स्थित आवास पर हरियाणा के तात्कालिन एडवोकेट जनरल के कलर्क के माध्यम से एक पैकेट भेजा गया जिसे सुरक्षा कर्मियों ने खोलकर देखा तो उसमें 15 लाख रुपये पाये गये। मामला सीबीआई को सौंपा गया। बहुचर्चित पीएफ घोटाला तब सामने आया जब सीबीआई कोर्ट के

विशेष जज द्वारा फरवरी 2008 में गाजियाबाद के कवि नगर थाने में लिखायी रिर्पोट में 78 व्यक्तियों को अभियुक्त बनाया गया। इसमें तीसरे और चौथे दर्जे के कर्मचारियों के भविष्य निधि खाते से करीब 23 करोड़ रुपये निकाले गये। इस प्रकरण में मुख्य अभियुक्त गाजियाबाद नजारत के सेन्ट्रल नाजिर आशुतोष अस्थाना ने कोर्ट में दिये गये अपने 29 पृष्ठ के बयान में 36 जजों के खिलाफ गम्भीर आरोप लगाये हैं। इनमें एक जज सर्वोच्च न्यायालय के और बाकी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बताये जा रहे हैं। ममाला सीबीआई के हाथ में है। पिछले वर्ष राज्य सभा के 58 सदस्यों ने कोलकाता उच्च न्यायलय के एक न्यायाधीश के खिलाफ महाभियोग प्रस्ताव सभापति के पास भेजा था। उन पर एक कम्पनी के खाते से, जिसके वे रिसीवर थे और जिसका केस कोर्ट में चल रहा था, 32 लाख रुपये अपने व्यक्तिगत खाते में जमा कराने का आरोप है। दिल्ली में पिछले दिनों किये गए सीलिंग के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश पर अपने दो बेटों और खुदरा व्यवसाय में लगी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को फायदा पहुँचाने का आरोप है। नोएडा में जमीन आवण्टन के दौरान हुए घोटाले में भी एक जज का नाम आया।

न्यायपालिका में व्याप्त भ्रष्टाचार के ये चन्द चर्चित उदाहरण हैं। यह समुद्र में तैरते बर्फ की चट्टान का मात्र ऊपर चमकता छोटा हिस्सा है। 2007 में जारी 'ट्रांस्पेरेन्सी इण्टरनेशनल' की रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत की निचली अदालतों मे 2,500 करोड़ रुपये से भी ज्यादा रिश्वत का लेन-देन होता है जिसे वकीलों, जजों और दलालों के बीच हैसियत के हिसाब में बाँटा जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश वी.एन.खरे ने एक इण्टरव्यू में कहा है कि ''पिछले दस साल में न्याय व्यवस्था में तेजी से पतन देखने को मिला है। इससे जुड़े हुए लोगों की सम्पत्ति में बेतहाशा वृद्धि हुई है।'' आखिर कहाँ से आती है यह सम्पत्ति। ''सर्वोच्च न्यायालय के एक और पूर्व न्यायाधीश एस.पी. भरूचा ने स्वीकार किया है कि ''भारत के सर्वोच्च न्यायालय और राज्यों के कुल न्यायालयों के 20 प्रतिशत न्यायाधीश भ्रष्ट हैं।'' सर्वोच्च न्यायालय के ही पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे. एस. वर्मा ने स्वीकार किया है कि ''न्यायिक भ्रष्टाचार की बातें अब हमें चौंकाती नहीं हैं।'' सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश के. जी. बालकृष्णन को एक इंटरव्यू में स्वीकार करना ही पड़ा कि ''न्यायपालिका में भ्रष्टाचार दुरभिसन्धि वाला भ्रष्टाचार है।''

सम्पत्ति घोषित करने में न्यायपालिका की हिचकिचाहट

एक वर्ष पूर्व केन्द्र सरकार ने न्यायाधीशों की सम्पत्ति और उत्तरदायित्व सम्बन्धी विधेयक राज्यसभा में पेश किया था जिसे भारी विरोध के चलते वापस ले लिया गया। सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीशों की सम्पत्ति को सार्वजनिक करने के पक्ष में नहीं था। विधेयक में कुछ ऐसे प्रावधान थे जिससे प्रबुद्ध वर्ग को परेशानी हुई। विधेयक के उपनियम 6 में यह कहा गया था कि ''उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपनी सम्पत्ति की जानकारी सरकार को दें, सार्वजनिक न करें''। विधेयक में यह व्यवस्था भी थी कि यह सूचना के अधिकार की हद से बाहर रहेगा। सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश बालकृष्णन ने कहा था कि ''मेरे लिए यह कहना ठीक नहीं होगा कि मैं अपनी सम्पत्ति की घोषण करने के लिए तैयार हूँ।'' काफी विरोधपूर्ण माहौल पैदा हो गया था। देश का जनमत न्यायाधीशों की सम्पत्ति की सार्वजनिक रूप से घोषणा चाहता था जबकि सर्वोच्च न्यायालय इस मुद्दे को टाल रहा था। इसी बीच कर्नाटक हाईकोर्ट के न्यायाधीश जे. शैलेन्द्र कुमार और पंजाब और हरियाणा हाईकोर्ट के न्यायाधीश के.श्कृष्णन ने अपनी सम्पत्ति की सार्वजनिक घोषणा कर दी। उसके बाद 26 अगस्त 2009 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने सम्पूर्ण सदस्यों (23 न्यायाधीशों) की एक बैठक करके अपने कदम पीछे खींचते हुए सम्पत्ति घोषित करने की मंशा जाहिर कर दी। इस तरह मामले का पटाक्षेप हुआ। हालाँकि मामला अभी भी सर्वोच्च न्यायालय में विचारधीन है। दरअसल, इस मामले को इसलिए तूल दिया गया कि न्यायाधीश अपने को जनसेवक मानने के बजाज महामहिम मानते रहे। पूरी न्याय व्यवस्था को रहस्य के आवरण में लपेटा गया है और इसे 'पवित्र गाय' बना दिया गया है। इसके पीछे यह भाव है कि सही-गलत और भला-बुरा का फैसला करने वाला तन्त्र भला किसी की निगरानी में क्यों रहे? पूर्व न्यायाधीश कृष्णा अय्यर का कहना है कि ''मुझे इस बात से बेहद कोफ्त हुई कि देश का एक मुख्य न्यायाधीश (ध्यान रहे कि मुख्य न्यायाधीश को सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था के सर्वेसर्वा का दर्जा हासिल है) ने कहा कि वे जनसेवक नहीं हैं। क्या जनतन्त्र में कोई ऐसा संस्थान है जो जनता के प्रति जवाबदेही को खारिज कर सके। दरअसल, न्यायपालिका में एक किस्म की कुलीनता आती जा रही है। न्यायाधीशों के कामों का कोई ऑडिट न होने से समस्या काफी बिगड़ी है।''

न्यायव्यवस्था का वर्गीय स्वरूप

प्रसिद्ध वकील और लेखक अरविन्द जैन ने अपनी पुस्तक 'औरत होने की सजा' में विस्तार पूर्वक बताया है कि कैसे भारतीय न्याय-प्रक्रिया महिलाओं के अधिकारों को सुरक्षित रखना तो दूर, उसकी सहायता का प्रयास करने की स्थिति में भी नहीं है। भवँरी देवी के मुकदमे का फैसला करते हुए जज ने टिप्पणी की थी कि सवर्ण जाति का अधेड़ पुरूष, जिसकी अपनी एक गरिमा है, दलित जाति की औरत के साथ बलात्कार कर ही नहीं सकता। आज सुप्रीम कोर्ट में एक भी महिला जज नहीं है और सभी हाईकोर्टों के कुल 617 जजों में से सिर्फ 45 महिला जज हैं, यानी केवल 7 प्रतिशत। भोपाल गैस त्रासदी के फैसले ने यह साबित कर दिया

है कि हमारा न्यायतन्त्र आम आदमी का कितना हितैषी है। करोड़ों गरीबों के लम्बित मुकदमे आखिर क्या इशारा करते हैं? केन्द्रीय न्याय मन्त्री ने एक पत्रिका को दिये गये अपने साक्षात्कार में स्वीकार किया है कि "मेरी जानकारी में एक ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने बीमार पिता कि दवा के लिए कुछ पैसे चुरा लिये थे, जिसकी सजा बमुश्किल 10 दिन की जेल होनी चाहिए थी। लेकिन वह बिना मुकदमा चलाये तीन साल से जेल में है।" दूसरी ओर दुर्दान्त अपराधी अग्रिम जमानत लेकिर खुलेआम घूमते हैं या चुनाव जीत का संसद और विधान सभाओं की शोभा बढ़ाते हैं।

1990 के बाद आर्थिक नीतियों में हुए बदलावों के अनुरूप न्यायपालिका के चरित्र में भी काफी बदलाव आया है। उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की जन-विरोधी नीतियों से त्रस्त लोगों ने जब न्यायपालिका का दरवाजा खटखटाया, तो कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश मामलों में उन्हें निराशा ही हाथ लगी है। मजदूरों और मजदूर संघों के प्रति न्यायपालिका की पहले जो सहानुभूति थी, वह बीते कल की बात हो गई है। अधिकांश फैसले, मालिकों के पक्ष में आते हैं चाहे वह सरकार हो या निजी पूँजीपति।

न्यायव्यवस्था किस आधार पर खड़ी है

15 अगस्त 1947 को जब भारत आजाद हुआ तो उसके सामने सबसे बड़ा सवाल था, संविधान बनाने का। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति और एक नये भारत के निर्माण की यह अनिवार्य शर्त थी। होना यह चाहिए था कि देश-निर्माण के उत्सव में पूरा देश शामिल होता। बिना किसी जाति, धर्म, क्षेत्र या लिंग भेद के, सभी वयस्क देशवासी एक संविधान-सभा का चुनाव करते। इस संविधान में व्यापक जनता के बहुमत का प्रतिनिधित्व होता और यही संविधान-सभा देश की जरूरतों और विशिष्टताओं से युक्त, बिलकुल ही न्यारा संविधान तैयार करती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 13 प्रतिशत निर्वाचकों द्वारा चुनी गयी, अंग्रेजों की मातहती में बनी 1935 की विधानसभा को ही संविधान-सभा का रूप दे दिया गया। उन्होंने अपनी वर्गीय जरूरतों के हिसाब से संविधान तैयार किया। हमारी आज की न्यायव्यवस्था और न्याय प्रणाली के जनविरोधी चरित्र की जड़ें इसी में निहित हैं।

हमारी न्याय प्रणाली का आधार बनाया गया 1862 की औपनिवेशिक भारतीय दण्ड संहिता। ब्रिटिश संसद ने भारत पर शासन चलाने के लिए 1858 में भारत शासन अधिनियम बनाया। फिर 1861 में भारतीय परिषद अधिनियम बनाया। इसके बाद उसने 1892, 1901, 1919 और 1935 का अधिनियम बनाया। ये सभी अधिनियम भारत पर अंग्रेजी साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए बनायी गयी उपनिवेशवादी नीति के अनुरूप थे। भला इस आधार पर बनायी गयी न्यायव्यवस्था किन भारतीय हितों की रक्षा करती।

1862 में सबसे पहले बाम्बे, कलकत्ता और मद्रास उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी। फिर 1866 में इलाहाबाद, 1884 में बंगलोर, 1916 में पटना, 1928 में श्रीनगर व जम्मू में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। ध्यान रहे कि इन्हीं न्यायालयों ने शहीदे आजम भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, और अशफाक उल्ला खाँ जैसे असंख्य क्रान्तिकारियों को फाँसी की सजा दी थी। इसलिए इनकी प्रकृति, वर्गीय स्वरूप, पक्षधरता और अंग्रेजों द्वारा इनकी स्थापना के उद्देश्य पर कोई विवाद नहीं है। आजादी के बाद भी, ठीक उसी ढर्रे पर न्याय प्रणाली की स्थापना की गयी। न्यायालयों का सम्पूर्ण परिवेश अभी भी औपनिवेशिक दासता की याद दिलाता है। अंग्रेजों ने जिस तरह अपना साम्राज्य चलाने के लिए शासन के विभिन्न अंगों शिक्षा, पुलिस, सेना, रेलवे इत्यादि को बनाया था, उसी तरह न्यायपालिका को भी खड़ा किया था।

दुर्भाग्य ही है कि अभी तक इस औपनिवेशिक ढाँचे से हमें मुक्ति नहीं मिल सकी है।

हमें कैसी न्यायपालिका चाहिए

सात वर्ष पहले न्यायमूर्ति मलिथम कमेटी की रिपोर्ट में स्वीकार किया गया था कि हमारा न्यायतन्त्र तबाह हो गया है। आज जुर्म के साथ जुड़ा जोखिम खत्म हो गया है। 93 प्रतिशत अरोपी छूट जाते हैं और बेलगाम घूमते रहते हैं। सन् 2000 में स्वर्णिम चतुर्भुज सड़क योजना में भ्रष्टाचार की पोल खोलने वाले युवा इंजीनियर सत्येन्द्र दूबे की हत्या का असली आरोपी पकड़ा नहीं गया है। किसी भी मन्त्री, उद्योगपति, बड़े रसूख वाले व्यक्ति को शायद ही कभी सजा होती हो। आज कानून और न्याय प्रक्रिया में सुधार के चर्चे जोरों पर हैं। कोई जजों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में है तो कोई जजों की नियुक्ति-प्रक्रिया में सुधार चाहता है। कोई मुकदमों का जल्दी से जल्दी निपटारा चाहता है तो कोई अदालत की कार्यवाही स्थानीय भाषा में पूरी करवाना चाहता है। लेकिन क्या इस चर्चा में आम आदमी के लिए कोई जगह है?

दसअसल हम यह भूल जाते हैं कि न्यायव्यवस्था भी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की तरह ही भारतीय राजनीतिक और प्रशासनिक ढाँचे का एक अंग है। यह अलौकिक, ईश्वर प्रदत्त, परम पावन संस्था नहीं, बल्कि शासन चलाने के लिए मानवनिर्मित संरचना है। जब व्यवस्थापिका और कार्यपालिका भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे हुए हैं, तो न्यायपालिका भला कैसे बची रह सकती है, जबकि तीनों एक ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे का संचालन करते हैं।

हमारे देश पर आज देशी-विदेशी पूँजीपतियों का गठजोड़ काबिज है। हर जगह उन्हीं की तूती बोलती है। किसी भी समाज में अर्थव्यवस्था के निर्बाध संचालन के लिए उसके अनुरूप ही सम्पूर्ण समाज व्यवस्था राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, प्रशासनिक, न्यायिक व्यवस्था निर्मित की जाती है। इसलिए न्यायपालिक में कोई भी जनपक्षीय सुधार तभी सम्भव है जब पूरे समाज में आमूल बदलाव हो। एक स्वस्थ्य, समतामूलक, मानव केन्द्रित और न्यायपूर्ण समाज में ही सबके लिए न्याय सम्भव है।

''नार्को टेस्ट, पोलीग्राफ और ब्रेनमैपिंग गैरकानूनी '' सुप्रीम कोर्ट

❑अनंग पाल

5 मई को सुप्रीम कोर्ट ने अपने एक महत्त्वपूर्ण फैसले में नार्को, पोलीग्राफ और ब्रेनमैपिंग जाँच को गैर कानूनी करार दिया है। निश्चय ही इस क्रूर और अमानवीय जाँच प्रणाली पर सर्वोच्य न्यायालय ने सही फैसला दिया है, लेकिन साथ ही इस फैसले में एक छोटी-सी-पूँछ भी लगा दी गयी है। सुप्रीम कोर्ट का कहना है कि ये जाँच अंसवैधानिक हैं और किसी की निजता पर हमला हैं, लेकिन अभियुक्त की सहमति से ये जाँच की जा सकती हैं।

इस ऐतिहासिक निर्णय की प्रक्रिया में सुप्रीम कोर्ट ने दुनिया भर में इन परीक्षणों के इस्तेमाल, इसकी सीमाएँ, नजीर और कोर्ट-कचहरी की राय-शुमारी करके ही फैसला दिया है। इन तीनों जाँचों के गुण-दोष का दस साल तक अध्ययन करने के बाद, भारत के विधि आयोग ने मई 2009 में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। जिसमें अध्ययन में वैज्ञानिक, नैतिक और मानवाधिकार सम्बन्धी पहलुओं को ध्यान में रखा गया था। न्यायमूर्ति ए.आर.लक्ष्मणन, जिनकी अध्यक्षता में यह अध्ययन किया गया, उन्होंने सुप्रीम कोट के इस फैसले पर अपनी राय व्यक्त करते हुए कहा कि यह फैसला सही है, लेकिन कुछ चीजें इसमें आज भी ऐसी हैं जिन पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है। इनमें प्रमुख हैं

पहला, नार्को टेस्ट का यह तरीका सौ साल पुराना है, फिर अचानक भारत में दस साल पहले इसे क्यों शुरू किया गया और वह भी फॉरेंसिक साइंस लेबोरेट्री के लाइव डिटेक्टर टैक्नीशियनों की सलाह पर?

दूसरा, इन परीक्षणों के समय दिमाग पर अचानक और तेज हमला होता है। दुनिया के कुछ-एक देशों में ही यह जाँच मान्य रही है, लेकिन वहाँ भी इसको मनोचिकित्सकों द्वारा ही कराया जाता है। लेकिन भारत में यह जाँच गैर चिकित्सकों द्वारा क्यों करवाये गये?

तीसरा, इस प्रतिबन्धित तकनीक को अपनाते समय क्या यह सुनिश्चित किया गया कि मनोवैज्ञानिकों ने इसे किसी अधिकृत और सर्वमान्य शोध के जरिये इसमें सुधार किये हैं या नहीं?

चौथा, किसी व्यक्ति को नशीली दवा देने के बाद उसके सचेत या अचेत होने के सही-सही आकलन के लिए क्या कोई वैज्ञानिक जाँच है?

पाँचवा, पोलीग्राफ और ब्रेन मैपिंग की पुष्टि के लिए नार्को टेस्ट को तीन तरह के परीक्षणों की शृंखला में क्यों शामिल किया गया, जबकि ये तीनों परीक्षण एक ही मनोचिकित्सक द्वारा किये जाते हैं?

छठा, जब तक जाँच एजेन्सियों को मनोनुकूल जवाब नहीं मिल जाता, तब तक एक ही व्यक्ति का पाँच या छः बार तक नार्को टेस्ट किया जाता है। ऐसे में क्या इसको वैज्ञानिक विधि माना जा सकता है?

भारत के तथाकथित वैज्ञानिकों ने सौ साल पुराने इन परीक्षणों को नया बताकर पेश किया और इस पर एक नयी तकनीकी जाँच का मुलम्मा चढ़ा दिया। ब्रेन मैपिंग को 1995 में अमरीका के लारेन्स ए. फारवेल ने खोजा और पेटेण्ट कराया। उसकी तकनीक एक काल्पानिक विज्ञान-कथा जैसी थी, जो वैज्ञानिक तकनीक के नाम पर फर्जीवाड़ा था। इसीलिए दुनियाभर में किसी ने भी इसे नहीं अपनाया। भारतीय वैज्ञानिकों ने इस पर न ही कोई महत्त्वपूर्ण शोध किया और न ही कोई शोधपत्र प्रकाशित कराया, लेकिन इसे आँख मूँद कर लागू किया गया। विमहान्स के मनोचिकित्सकों ने इसे विकसित करने का दावा किया था। गृहमन्त्रालय ने विमहान्स के कुलपति को इसकी वैधता की जाँच करने की जिम्मेदारी दी थी, जिन्होंने बताया था कि यह पूरी तरह अवैज्ञानिक है और इस पर रोक लगा दी जानी चाहिए।

न्यायमूर्ति के.टी. थामस (सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश) के अनुसार, ''आपराधिक जाँच प्रक्रिया में नार्को एनालिसिस

एक भौंड़ी तकनीक है।'' उन्हीं के अनुसार, ''किसी भी आपराधिक मामले की जब कोर्ट में सुनवाई होती है। तो उसका मकसद यह नहीं होता कि अभियुक्त को हर हाल में सजा देनी ही है, बल्कि यह सुनिश्चित करना होता है कि किसी हाल में निर्दोष व्यक्ति को सजा न हो।' अगर सुप्रीम कोर्ट न्याय की इस मूल प्रतिज्ञा को ध्यान में रखता तो फिर ऐसे महत्त्वपूर्ण फैसले में अभियुक्त की सहमति या असहमति जैसी भ्रामक शब्द की गुंजाइश ही नहीं रहती।

नार्को टेस्ट अपने आप में नशीली प्रक्रिया है। इसी देश में, एक तरफ नशीले पदार्थ का सेवन करना या रखना कानूनन जुर्म है। दूसरी तरफ वही नशीला पदार्थ अभियुक्तों को पाँच या छः बार तक पिलाते हैं ताकि वह जुर्म कबूल कर ले। क्या यह कानून और अभियुक्त की जान के साथ खिलावाड़ नहीं? इसमें पूरी सम्भावना है कि उसके शरीर में एण्टी टॉक्सिन की मात्रा बढ़ जाये और वह नशे का आदी दो जाये।

ई ई जी जैसे महत्त्वपूर्ण परीक्षण को चिकित्सा विज्ञान उपचार के लिए भी कारगार नहीं मानता। फिर ब्रेन मैपिंग जैसी जाँच से दिमाग की प्रक्रिया पढ़कर और उसके आधार पर रिपोर्ट बनाकर भला किसी व्यक्ति का अपराधी होना कैसे सुनिश्चित किया जा सकता है?

फॉरेंसिक साइंस ने इन सभी परीक्षणों को वैज्ञानिक जाँच के रूप में स्वीकार नहीं किया है। यह केवल पुलिस की छानबीन का एक हथकण्डा है जिसके जरिये वे अपराधियों से जुर्म कबूल करवाते हैं।

विधि आयोग के अध्यक्ष द्वारा चिह्नित जिन छः बिन्दुओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके मद्देनजर सुप्रीम कोर्ट द्वारा अपने इस महत्त्वपूर्ण फैसले में अभियुक्त की सहमति असहमति की गुंजाइश छोड़ना इस फैसले को निष्प्रभावी बना दिये जाने की गुंजाइश छोड़ना है।

जिस देश की अधिकांश आबादी यह मानती है कि पुलिस किसी भी कानून से ऊपर है और जो अपनी जो अपनी बात मनवाने के लिए सभी हदें पार कर जाती है, उससे असहमत होने का साहस भला कौन कर पायेगा? सच्चाई तो यह है कि बहुत थोड़े लोग ही होंगे जिन्हें यह पता होगा कि कानून में ऐसा कोई बदलाव भी हुआ है।

वैज्ञानिकों के अनुसार दुनिया में कोई भी जाँच आज तक ऐसी नहीं है जो किसी की भावनाओं को नाप सके फिर किसी की साँस के उतार-चढ़ाव, खून की मात्रा, नब्ज की दर और त्वचा की फड़फड़ाहट से किसी की भावना को कैसे जाना जा सकता है? यह जाँच के नाम पर धोखाधड़ी है, छल-प्रपंच है।

दुनियाभर में प्रतिबन्धित इन सौ साल पुरानी तकनीकों को नयी बताकर पेश करना उसी तरह है जैसे कोई व्यापारी अपने सड़े-गले और जहरीले सामान को लुभावनी पैकिंग में बेचे। चूँकि भारत में सच उगलवाने या अपराध खत्म करने के नाम पर पुलिस-प्रताड़ना, फर्जी मुठभेड़ या हिसासत में मृत्यु आज रोजमर्रे की घटनाएँ हो चुकी हैं, इसलिए यह आम धारणा बन गयी है कि अपराध खत्म करने के लिए ये उपाय जरूरी हैं और पुलिस द्वारा कानून की धज्जी उड़ाना भी जायज है। नार्को टेस्ट, ब्रेन मैपिंग व पोलीग्राफ को भी लोगों ने इसी तरह स्वीकार कर लिया था। अपवाद स्वरूप ही कहीं इसका विरोध हुआ होगा। सुप्रीम कोर्ट के इस नये फैसले का लाभ उठाकर असली अपराधी तो बच जायेंगे, लेकिन अधिकांश जनता जिन्हें इन बातों की जानकारी नहीं होती, भला उनके लिए इस फैसले का क्या लाभ! सही मायने में इसका लाभ तभी होगा जब इस पर पूर्णतया प्रतिबन्ध लगे और ऐसे परीक्षण करने वालों के लिए कठोर सजा का प्रावधान हो।

प्रश्न यह है कि क्या कोई असंवैधानिक चीज किसी की अनुमति ले लेने से ही संवैधानिक हो जाती है? सोचने का विषय यह है कि अगर किसी की निजता पर यह हमला है तो क्या किसी की सहमति लेकर उसकी निजता पर हमला किया जा सकता है? भारत में पुलिस की कार्यशैली को देखते हुए सहमति-असहमति का तर्क परोक्ष रूप से उसे ऐसे जाँच के लिए मौका नहीं दे देता? गम्भीर बात है कि किसी गैर कानूनी कार्रवाई को सहमति जैसे लुभावने शब्द से कानूनी बनाना उस फैसले का मजाक बना देना है। इस आधार पर तो सहमति से किसी की हत्या करना भी कानूनी ठहराया जा सकता है। ❑

एक विविधतापूर्ण देश

□अर्नेस्टो चे ग्वेरा

(क्यूबा क्रान्ति के नायक, फिदेल कास्त्रो के सहयोद्धा, लातिन अमरीका ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया के युवाओं के आदर्श चे ग्वेरा ने अपनी भारत यात्रा के दौरान दिल्ली के आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों का भी दौरा किया था। इस लेख में उन्होंने अपनी उस यात्रा का एक जीवन्त चित्र उकेरा है।)

कैरो से हमने सीधे भारत के लिए उड़ान भरी, एक ऐसा देश, जिसका क्षेत्रफल 30 करोड़ वर्ग किलोमीटर से ज्यादा और आबादी 36 करोड़ है।

यहाँ जमीन का नाटकीय घटनाक्रम उतना अधिक दिखाई नहीं दिया जितना मिस्र में, हालाँकि यहाँ की मिट्टी उस रेगिस्तानी देश में पायी जाने वाली मिट्टी से कहीं ज्यादा बढ़िया है लेकिन सामाजिक अन्याय यहाँ जमीन के मनमाने बँटवारे में दिखायी देता है जहाँ थोड़े से लोगों के पास काफी अधिक जमीन है जबकि बहुतों के पास बिल्कुल ही नहीं।

भारत 18वीं सदी के अन्त और 19वीं सदी की शरुआत में अंग्रेजों का ''उपनिवेश बना दिया गया।'' निश्चय ही स्वतन्त्रता के लिए काफी संघर्षों के बाद ही ऐसा सम्भव हुआ लेकिन अंग्रेजों की सैनिक क्षमता ही निर्णायक साबित हुयी। यहाँ का उभरता हुआ दस्ताकारी उद्योग उस औपनिवेशिक ढाँचे के दुष्प्रभाव का शिकार हो गया, जिसका मुख्य उद्देश्य भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता को खत्म करना और इसे हमेशा-हमेशा के लिए यूरोप का कर्जदार बनाना था। यह स्थिति पूरी 19वीं सदी और वर्तमान 20वीं सदी के आधे हिस्से के तक काफी मजबूती से बनी रही और देश में जहाँ कहीं भी विद्रोहियों का विक्षोभ प्रकट हुआ, उसे मासूम लोगों के खून में डूबो दिया जाता रहा।

पिछले महायुद्ध में अंग्रेज औपनिवेशिक सत्ता के विघटन के संकेत सामने आये और भारत में रहस्यमय व्यक्तित्व वाले महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलाये जा रहे निष्क्रिय प्रतिरोध ने अन्ततः अपनी बहुप्रतीक्षित स्वतन्त्रता हासिल कर ली। गाँधी की मृत्यु के बाद सरकार की जिम्मेदारी जवाहर लाल नेहरू के कंधों पर थी। उन्होंने एक ऐसे देश की जिम्मेदारी उठायी जिसकी आत्मा हजारों सालों के वर्चश्व के चलते रुग्ण थी और जिसकी अर्थव्यवस्था लंदन के शहरी बाजारों में अपने सस्ते सामानों की आपूर्ति पर टिकी हुई थी। भविष्य के आर्थिक विकास के लिए जमीन का बँटवारा और देश का औद्योगीकरण करना जरूरी था। काँग्रेस पार्टी के नेताओं ने पूरे उत्साह के साथ अपने आपको इस काम में लगा दिया।

इस विराट और अनोखे देश में रूढ़ियों, परम्पराओं और संस्थाओं की एक पूरी शृंखला मौजूद है। लेकिन उनकी सहायता से हमारे वर्तमान दौर की सामाजिक समस्याओं का किसी भी रूप में कोई हल सम्भव नहीं है।

हमारी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था समान है। तिरस्कार और उपनिवेशीकरण का हमारा अतीत भी एक ही जैसा है। प्रगति की दिशा भी समान है। लेकिन फिर भी एक ही लक्ष्य की ओर समान रूप से संचालित होने के बावजूद हमारे समाधान में दिन और रात का अन्तर है। हमारे यहाँ जब कृषि सुधार का तूफान आया तो एक ही झटके में कामागुए के बड़े भूस्वामियों के कब्जे से जमीन छीन ली गयी और यह तूफान पूरे देश में सभी किसानों को मुफ्त जमीन बाँटे जाने तक बेरोकटोक आगे बढ़ता रहा। महान भारतीय राष्ट्र अपनी प्राच्य मितव्यायिता के साथ फूँक-फूँक कर कदम रख रहा है। यहाँ भारत के भूस्वामियों को इस बात के लिए राजी किया जा रहा है कि वे कास्तकारों और किसानों को जमीन दे दें, बशर्ते वे उसकी कीमत अदा करें। कुछ इस तरह कि मानव जाति के सबसे विनम्र, संवेदनशील और कंगाली के शिकार, भारतीय किसान समुदाय को धीरे-धीरे ऐसी निर्धनता की ओर धकेला जा रहा है, जो अगम अगोचर है।

हमने राष्ट्रीय राजधानी, नई दिल्ली के नजदीक एक कृषि सहकारिता की यात्रा की, बंजर और उजाड़ इलाके की 40 किमी यात्रा करने के बाद जिसमें पेड़-पौधों और हरियाली का दर्शन दुर्लभ था और इक्के-दुक्के गाय-भैंस ही दिखायी दे रही थी, हम भयंकर गरीबी के शिकार लोगों और मिट्टी के

झोपड़ों वाले एक छोटे से गाँव में पहुँचे। एक स्कूल जो उस सहकारिता के लिए गर्व का विषय था, उसमें पाँच कक्षाओं को दो अध्यापक अपने असाधारण प्रयासों से संचालित कर रहे थे। बीमारी के स्पष्ट चिह्नों से युक्त दुर्बल बच्चे पालथी मार कर जमीन पर बैठे अपने अध्यापक के व्याख्यान सुन रहे थे।

सामूहिक उपयोग के लिए सीमेंट के चबूतरे वाले दो कुओं का उद्घाटन, उस गाँव के लिए बहुत बड़ी उपलब्धी थी। लेकिन असाधरण सामाजिक महत्त्व की दूसरी खोजें भी थीं जो किसी के लिए भी यह समझने में सहायक थी कि इस इलाके में गरीबी का कैसा साम्राज्य फैला है। कृषि सुधार के तकनीशियन भारतीय किसानों को अब गाय के गोबर से बने उपलों की जगह ईंधन के रूप में किरासन तेल का इस्तेमाल करने की सीख दे रहे हैं।

पवित्र पशु

हालाँकि छोटे से इस अनूठे बदलाव के फलस्वरूप भारी मात्रा में गाय के सूखे गोबर को, जिसका दुरूपयोग ईंधन के रूप में किया जाता रहा है, उर्वरक के रूप में हो सकता है। महिलाएँ और बच्चे बड़े ही प्यार से दुधारू पशुओं का गोबर सानते हैं। उपलों को धूप में सुखाने के लिए रख देते हैं और बाद में इससे कई मीटर ऊँचे पिरामिड तैयार करते हैं, जो चींटियों की विशाल बाँबी जैसे दिखते हैं। भारत सरकार के प्रयास से अब उनके पास अपने छोटे किरासन तेल वाले स्टोव होंगे और वे अपनी जमीन को उर्वर बनाने के लिए इस महत्त्वपूर्ण वस्तु का इस्तेमाल करेंगे। कोई आसानी से समझ सकता है कि प्राचीन काल में गाय एक पवित्र पशु क्यों मानी जाती थी। उससे खेत में काम लिया जाता था, वह दूध देती थी, यहाँ तक कि उसके गोबर का भी खनिज ईंधन की जगह इस्तेमाल किया जाता था, जो यहाँ उपलब्ध नहीं था। इससे स्पष्ट है कि क्यों किसानों का धर्मबोध इस बहुमूल्य पशु की हत्या को वर्जित मानता था और इसके लिए जरूरी था कि इसे पवित्र समझा जाये। धर्म एक ऐसी निर्णायक शक्ति थी जिसके द्वारा उत्पादन के काम आने वाले इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व के सम्मान को लोगों के दिलो-दिमाग में आरोपित किया जा सकता है।

साल बीतते गये, शताब्दियों में बदलते गये, और अब मशीनी हल तथा तरल ईंधन के युग में भी पवित्र पशु के प्रति वही श्रद्धा, उसी भक्ति-भाव के साथ जारी है और चूँकि किसी के लिए भी इसका माँस खाना अपना धर्म भ्रष्ट करना है, इसलिए यह भक्ति भाव कई गुना बढ़ जाता है। भारत में 18 करोड़ गाय हैं, यानी अमरीका से 10 करोड़ ज्यादा, जो दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा दुग्ध उत्पादक है। भारतीय नेतृत्व इसी समस्या में उलझा हुआ है कि कैसे धार्मिक और सांस्कृतिक नियमों के प्रति आज्ञाकारी लोगों को इस पवित्र पशु के प्रति भक्ति भावना का परित्याग करने के लिए तैयार किया जाये। भारत के एक प्रमुख शहर (कोलकाता) में 60 लाख लोग बेशुमार गायों के साथ भीड़-भाड़ में रहते हैं, जो सड़कों को गन्दा करती हैं, यातायात को बाधित करती हैं और हर समय सड़कों के बीचों-बीच अधिकार पूर्वक लेटी रहती हैं।

इस शहर में हमने भारतीय परिदृश्य की जटिलता का एक अद्भुत नमूना देखा। बेहद गरीबी और बदहाली के साथ-साथ हमें औद्योगिक विकास के संकेत भी मिले जो भारी उद्योगों के निर्माण की ऐसी क्षमता रखते हैं, जिन्हें हासिल करने में हमें अभी बहुत लम्बा समय लगेगा, जैसे-रेल का इन्जन। शोध के प्रत्येक क्षेत्र में हमें तकनीकी विकास के संकेत दिखाई दिये, जिसके लिए भारतीय वैज्ञानिकों को दुनिया-भर में काफी सम्मान प्राप्त है।

हमें समकालीन विश्व के प्रतिष्ठित भौतिक शास्त्रियों में से एक विद्वान कृष्णा से मिलने का भी अवसर मिला। उन्होंने अपने लोगों जैसी ही सादगी और सहृदयता के साथ हमसे लम्बी बात-चीत की। उन्होंने नाभिकीय ऊर्जा का शान्तिपूर्ण प्रयोग सुनिश्चित करने के लिए विश्व की सम्पूर्ण तकनीकी शक्ति और क्षमता लगा देने की जरूरत पर जोर दिया और ऐसे लोगों की बेहूदी नीतियों की भर्त्सना की जिन्होंने हाइड्रोजन अस्त्रों को अन्तरराष्ट्रीय विवादों के निपटारे का एक जरिया मानते हुए, उनका अम्बार लगाने के काम में खुद को समर्पित कर दिया है।

भारत में विश्व युद्ध के प्रति लोगों के मन में ऐसी उदासीनता है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के सर्वाधिक उत्तेजनापूर्ण दौर में भी उन्होंने इस मुद्दे का लाभ नहीं उठाया। शान्तिपूर्ण विरोध पर वहाँ इतना अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया कि अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने जिस धरती पर 150 वर्षों तक राज किया था, वहाँ से उन्हें हमेशा-हमेशा के लिए भागना पड़ा।

यहाँ यह ध्यान देना अत्यन्त रोचक है कि विषमताओं से भरा यह देश जहाँ अत्यन्त परिष्कृत सभ्य जीवन और अत्याधुनिक तकनीकी जानकारी के साथ-साथ दयनीय तंगहाली का सह-अस्तित्व है, महिलाएँ सामाजिक सम्बन्धों में और यहाँ तक

कि राजनीति में भी प्रबल भूमिका निभाती हैं। काँग्रेस की अध्यक्षा और विदेशी मामलों की उपमन्त्री जैसे पदों पर भद्र और मनोहर भारतीय महिलाओं का उदाहरण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अपनी यात्रा के दौरान हमने भारतीय राजनीतिक जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण लोगों के साथ बातचीत की। नेहरू ने दादा जी जैसी आत्मीयता और अन्तरंग भाव से हमारा स्वागत किया, लेकिन साथ ही क्यूबाई लोगों की पीड़ा और संघर्षों में गहरी रुचि लेते हुए उन्होंने हमारे उद्देश्यों के बारे में अपने असाधारण और बहुमूल्य सुझाव दिये और हमें बिना शर्त सहयोग का आश्वासन दिया। यही बात मैं संयुक्त राष्ट्र प्रतिनिधि मण्डल के प्रमुख और रक्षामन्त्री वी.के.कृष्ण मेनन के बारे में भी कह सकता हूँ। उन्होंने सभी सेना प्रमुखों से हमारी मुलाकात की व्यवस्था की ताकि हम अपने-अपने देशों की समस्याओं के बारे में विचार विमर्श कर सकें।

हमने वाणिज्यमन्त्री के साथ एक मैत्रीपूर्ण बातचीत की, जो भविष्य में वाणिज्यिक वार्ताओं के लिए जमीन तैयार करने की दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण हो सकती है। हम जिन उत्पादों की आपूर्ति कर सकते हैं, उनमें ताम्बा, कोकोआ, कृत्रिम रेशम के धागे जो टायर बनाने के काम आते हैं और निकट भविष्य में शायद चीनी भी हो सकती है। भारत हमें कोयला, कपास, कपड़ा, जूट के सामान, खाद्य तेल, सूखे मेवे, रेलवे के सामान और प्रक्षिशण वायुयान बेच सकता है। लेकिन यह सूची यहीं समाप्त नहीं होती। अनुभव हमें बताता है कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया में आगे बढ़ रहे दो देश इन्हें बढ़ा भी सकते हैं, क्योंकि जितना अधिक उनके उद्योगों का विकास होगा उतना ही वे अपनी निर्मित वस्तुओं का आपस में लेन-देन करेंगे। 39 करोड़ भारतीयों का जीवन स्तर जिनता ऊपर उठेगा, वहाँ हमारी चीनी की माँग भी बढ़ेगी इस तरह हम एक नया और बहुमूल्य बाजार हासिल कर सकते हैं।

अपनी इस यात्रा से हमें कई महत्त्वपूर्ण सबक सीखने को मिले, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण यह प्रमाण था कि किसी देश के आर्थिक विकास की आधारभूत शर्त है तकनीकी प्रगति का उन्नत स्तर और खास तौर पर चिकित्सा, रसायन शास्त्र, भौतिकी और कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक शोध संस्थानों की स्थापना। साथ ही इन सभी तकनीकी निकायों और इन सभी मामलों का आम तौर पर राष्ट्रीय सांख्यिकी केन्द्र के साथ ताल-मेल और उसके द्वारा निर्देशन होना चाहिए, जिसमें भारतीयों को महारत हासिल है। जिस सहकारी सीमिति की मैंने पहले चर्चा की है, वहाँ से वापस आते समय बच्चे हमारे सम्मान में विदाई गीत गा रहे थे, जिसका अर्थ था ''क्यूबा और भारत भाई-भाई हैं''। निसंदेह क्यूबा और भारत भाई हैं, नाभिकीय विखण्डन और ग्रहों के आरपार मार करने वाले मिसाइलों के इस दौर में दुनिया की समूची जनता को भाई-भाई होना चाहिए। ❑

(यह दुर्लभ लेख चे ग्वारा स्टडीज सेन्टर, हवाना की वर्दे ओलीव (हरा जैतून) पत्रिका में 12 अक्टूबर 1959 को प्रकाशित हुआ था। इसका पुनर्प्रकाशन 'फ्रन्ट लाइन' के 23 अप्रैल 2010 अंक में किया गया। वहीं से लेकर यह हिन्दी रूपान्तरण आभार सहित यहाँ प्रस्तुत है। अनुवाद पारिजात)

रामधारी सिंह दिनकर की कविता

जनता

मत खेलो यों बेखबरी में, जनता फूल नहीं है।
और नहीं हिन्दू-कुल की अबला सतवन्ती नारी,
जो न भूलती कभी एक दिन कर गहनेवालों को,
मरने पर भी सदा उसी का नाम जपा करती है।

जनसमुद्र यह नहीं, सिन्धु है यह अमोघ ज्वाला का,
जिसमें पड़कर बड़े-बड़े कंगूरे पिघल चुके हैं।
लील चुका है यह समुद्र जाने कितने देशों में,
राजाओं के मुकुट और सपने नेताओं के भी।

सुहलाते हो पीठ सुना कर चिकनी-चुपड़ी बातें?
पर, शेरनी स्पर्श में मन का पाप समझ जाती है।

माणि, मुक्ता, वैदूर्य, रत्न पच गये जहाँ पानी-से,
क्या बिसात है वहाँ तुम्हारे तृणकोमल वल्कल की?
सावधान, जनभूमि किसी का चरागाह नहीं है,
घास यहाँ की पहुँच पेट में काँटा बन जाती है।

यूनानी सम्प्रभु कर्ज संकट
संकट की गिरफ्त में पूँजीवादी यूरोप

❑विक्रम प्रताप

जबकोई सम्प्रभु राष्ट्र अपने कर्जों का पूरी तरह भुगतान करने में असमर्थ हो जाये तो उसके कारण जो आर्थिक संकट उत्पन्न होता है उसे सम्प्रभु कर्ज संकट कहते हैं। ऐसी स्थिति में कर्जदाता आने वाले जोखिम के भय से ब्याज दर और अधिक बढ़ा देते है। साथ ही, सरकार को नये कर्ज लेने के लिए कठोर शर्तें माननी भी पड़ती हैं। जिससे अर्थव्यवस्था के और अधिक संकट ग्रस्त होने का खतरा पैदा हो जाता है।

यूनान आज ऐसे ही कर्ज संकट से जूझ रहा है। इससे उबरने के लिए उसने मई में फिजूलखर्ची रोकने के लिए जो कदम बढ़ाये उनमें प्रमुख हैं मजदूरों की छँटनी, वेतन-भत्ते में कटौती, शराब, सिगरेट, ईंधन और विलासिता की अन्य वस्तुओं पर टैक्स में वृद्धि, सेवानिवृत्ति की आयु बढ़ाकर 61 से 65 वर्ष करना और 6000 में से 4000 सरकारी कम्पनियों का निजीकरण। इन उपायों को अपनाते ही यूनान में जन-संघर्ष फूट पड़ा। मई दिवस के दिन वामपन्थी, अराजकतावादी और कम्युनिस्ट पार्टी समर्थित कई यूनियनों ने एथेंस और थेसायोनिकी में विरोधी मार्च निकाला। विरोध प्रदर्शनों को नियन्त्रित करने के लिए दंगा पुलिस के पहुँचते ही हिंसक झड़पें शुरू हो गयीं। 4 मई को यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों ने एक्रोपोलिस में घुसकर ''यूरोप की जनता उठो, जागो'' का बैनर लटका दिया।

वेतन में कटौती और टैक्स बढ़ोत्तरी के खिलाफ 5 मई को देशव्यापी हड़ताल बुलायी गयी। आधी रात से ही हवाई जहाज, ट्रेन, जल और सड़क परिवहन ठप्प कर दिया गया। कई स्कूल, अस्पताल और निजी व्यवसाय बन्द कर दिये गये। यह 1967-74 के यूनानी सैनिक ''जुन्टा'' के बाद का बससे बड़ा प्रदर्शन था जिसमें एथेंस में एक लाख से ज्यादा लोग शामिल हुए। प्रदर्शनकारी पुलिस से भिड़ गये। उन्होंने संसद सदस्यों पर राष्ट्रीय सम्पत्ति चुराने का आरोप लगाया। वित्त मन्त्रालय सहित आस-पास की इमारतों में आग लगा दी गयी। स्टैडियू गली में बोतल बम फेंके गये और पूँजीवाद विरोधी नारे लगाये गये। एक बैंक में हुई आगजनी से तीन लोग जलकर मर गये। सरकार ने हिंसा की निन्दा की जबकि प्रदर्शनकारियों ने इसे पुलिस द्वारा की गयी हिंसा और क्रूरता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया बताया। एथेंस के दूसरे भागों में भी हिंसक प्रदर्शन हुए। ''यह हत्यारे हैं'' और ''संसद को जला दो'' जैसी आवाजें पूरे शहर में गूँजती रहीं। एथेंस में 12 लोग जख्मी हुए और 70 लोगों को पूछ-ताछ के लिए गिरफ्तार किया गया। दूसरी ओर थेसायोनिकी में विरोध प्रदर्शन कर रहे 37 लोगों को गिरफ्तार किया गया। सम्पन्न यूरोप में ऐसे विकट राजनीतिक संकट पैदा करने वाली आर्थिक समस्याएँ कैसे पैदा हो गयीं? इस संकट के विभिन्न पहलुओं की विस्तार से चर्चा करना जरूरी है।

वित्तीय संकट की जमीन

यह पूँजीवादी आम संकट के चरित्र को समझने के लिए एक ठोस और मूर्त उदाहरण है। 1929-30 की महामन्दी झेल चुके अमरीका और यूरोप को द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान तबाही के शिकार देशों के पुनर्निर्माण में एक नयी आशा दिखाई दी थी। उसी समय से कल्याणकारी राज्य की कीन्स की अवधारणा भी मन्दी से लड़ने के लिए हथियार के रूप में आजमायी जाने लगी थी। लेकिन 1960-70 आते-आते पुराने हथियार बेकार पड़ने लगे।

दुनिया-भर के पूँजीपति और खासतौर से अमरीका के पूँजीपतियों ने दो नये रास्ते चुने, जिसकी सहायता से मन्दी को सामयिक तौर पर पृष्ठभूमि में ठेल दिया गया। पहला, भारी कर्ज देकर बाजार में नयी जान डाली गयी और दूसरा, इन कर्जों पर सट्टेबाजी की शुरुआत हुई। संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था में जब सामानों की बिक्री ठहर गयी तो उपभोक्ता सामग्रियों पर कर्ज देकर मध्यम वर्ग को खरीदारी के लिए प्रोत्साहित किया गया, लेकिन जल्द ही इसकी भी हवा निकल

गयी, क्योंकि अब और अधिक कर्ज लेकर खरीदारी करना मध्यम वर्ग की औकात से बाहर हो गया। पूँजीवादी निजी स्वार्थ एक ऐसा गन्दा नाला है जिसमें समय-समय पर मन्दी रूपी कचरे का जाम लगता रहता है। इसी अवरोध को खोलने के लिए बैंको ने निम्न मध्यम वर्ग के ऐसे लोगों को भी कर्ज देना शुरू कर दिया जो इसकी अदायगी कर ही नहीं सकते थे। यह नाले के कचरे को साफ करने की हताशा भरी कोशिश थी। इन कर्जों पर वित्तीय उपकरणों के जरिये सट्टेबाजी भी शुरू हो गयी। सट्टेबाजी का यह बुलबुला कर्ज के मूलधन की मात्रा से कई गुना बड़ा था। यह सोचकर कि अचल सम्पत्ति का दाम लगातार बढ़ता रहता है, मकानों पर भी कर्ज बाँटे गये। लोगों ने भी बैकों से भरपूर कर्ज लेकर मकान बनवाये या खरीदे। अब वित्तीय संस्थानों ने इन मकानों और उसे बन्धक रखकर लिये गये कर्जों पर भी सट्टेबाजी शुरू कर दी। लेकिन 2007 तक जब लोग अपने कर्जे नहीं चुका पाये तो धीरे-धीरे बैंकों के साथ बड़ी वित्तीय कम्पनियाँ, जैसे लेहमन ब्रदर्स, मेरिल लिंच एआईजी आदि बर्बाद हो गयीं। इनकी बर्बादी ने अमरीका, यूरोप और एशिया के आर्थिक जगत में भारी तबाही मचाई। इस तबाही से बचने के लिए सरकारों ने सट्टेबाज वित्तीय कम्पनियों को अकूत धनराशि पिलायी। इसके लिए सरकारों ने विभिन्न स्रोतों से कर्ज लिए और नोट छापे, जिससे महँगाई बढ़ती गयी। इस मौके को ताड़कर सट्टेबाजों और जमाखोरों ने जमकर लूट-खसोट की, जिससे महँगाई और बढ़ गयी।

अभी दुनिया की अर्थव्यवस्था चैन की साँस भी नहीं लेने पायी थी कि 2010 की शुरुआत में मन्दी फिर आ धमकी। इस तरह अर्थव्यवस्था के जल्द दुबारा मन्दी में फँसने को द्विआवर्ती मन्दी कहा गया। यह कुछ ऐसी परिस्थिति थी जैसे ''चिन्गारी कोई भड़के तो सावन उसे बुझाये,सावन जो आग लगाये, उसे कौन बुझाये?''

यानी जब बैंक और वित्तीय संस्थान बर्बाद हो रहे थे तो उसे सरकारों ने अपने केन्द्रीय बैंक की मदद से बचाया, लेकिन जब उन्हीं सरकारों के दिवालिया होने का समय आ गया तो भला उन्हें कौन बचाये? 2010 में यूरोप में पैदा हुए यूरोजोन कर्ज संकट या सम्प्रभु कर्ज संकट के पीछे का मूल कारण यही है। इसने न केवल आर्थिक संकट को जन्म दिया है, बल्कि राजनीतिक संकट आसन्न हो गये हैं।

सन् 2000 से 2007 तक यूरोपीय संघ में यूनान सबसे तेज वृद्धि दर वाली अर्थव्यवस्था थी। तेजी से बढ़ते विदेशी निवेश के बीच इसकी वार्षिक वृद्धि दर 42 प्रतिशत थी। इसी को देखते हुए सरकार ने घाटे की अर्थव्यवस्था को जारी रखा। शुरू में यूनानी मुद्रा का अवमूल्यन करना कर्ज के जरिये वित्तीकरण में सहायक हुआ और यूरो मुद्रा के आने के बाद शुरू में यूनान कम ब्याज दर वाले सरकारी बॉण्ड के जरिये अधिक मात्रा में उधार लेने में सफल रहा। इसके बाद 2008 में आये वैश्विक आर्थिक संकट ने यूनान पर काफी घातक प्रभाव डाला। 2009 तक यूनान के दो सबसे बड़े उद्योग-पर्यटन और जहाजरानी की आय 15 प्रतिशत गिर गयी। सरकार ने गोल्डमैन सैच और दूसरे बैंकों से मिलीभगत करके अपने उधार और कर्ज के स्तर को छुपाये रखा, अन्यथा उसके पाप का घड़ा बहुत पहले ही फूट जाता। इस संकट के दौरान रेटिंग एजेन्सियों, वित्तीय संस्थानों और मीडिया की भूमिका भी सन्दिग्ध रहीं, जिन्होंने कुछ पूँजीपतियों का पक्षपातपूर्ण समर्थन किया।

मजबूरन 2009 के अन्तिम महीनों में जार्ज पेन्द्रयू की नयी समाजवादी ''पासोक'' पार्टी की सरकार ने बजट घाटे को जीडीपी का 12.7 प्रतिशत घोषित किया। जबकि सरकारी कर्ज बढ़कर जीडीपी का 121 प्रतिशत हो गया। स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर और फिज रेटिंग एजेन्सियों ने यूनान की रेटिंग 10 साल के न्यूनतम स्तर तक गिरा दिया। इससे निवेशकर्ताओं में भगदड़ मच गयी। निवेशकर्ताओं और यूरोपीय संघ की सरकार का विश्वास बहाल करने के लिए पेन्द्रयू सरकार ने खर्चों में कटौती करने, स्टेट बैंक पर बोनस समाप्त करने और निजी बैंकों के बोनस पर 90 प्रतिशत टैक्स लगाने की घोषणा की। सरकार ने भ्रष्टाचार और टैक्स चोरी को समस्या का मूल कारण चिह्नित करते हुए उससे गम्भीर लड़ाई की चेतावनी दी। लेकिन ऐसी हवाई बातों का अर्थव्यवस्था पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। यूनान की सरकार ने जब कल्याणकारी योजनाओं और सामाजिक आर्थिक सुरक्षा योजनाओं में मितव्ययी कार्रवाई के तहत कटौती करनी शुरू की तो लोगों का गुस्सा सड़कों पर आ गया। उन्हें यह समझते देर न लगी कि जब 2008-09 की मन्दी में मुनाफाखोर सट्टेबाज बैंक बरबाद हो रहे थे तो सरकार ने सार्वजनिक मदों में कटौती करके उन्हें बचाया था। फिर सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा और सरकारी कामकाज को जारी रखने के लिए उन्हीं बैंको से भारी ब्याज दर पर कर्ज लिया था। यही कर्ज सरकार के जी का जंजाल बन गया। कर्ज के बढ़ते अम्बार से छुटकारे के लिए जैसे ही सरकार ने अपने देशवासियों

की जेब पर डाका डालने की कोशिश की तो लोगों ने विरोध प्रदर्शन शुरू कर दिया।

यूनान को बचाने के लिए यूरोपीय संघ ने 30 अरब यूरो की सहायता दी। यूरोपीय संघ के देशों को यह डर सता रहा था कि कहीं यह संक्रामक बीमारी उनके यहाँ भी न पहुँच जाये। क्योंकि अमरीका से लेकर यूरोप तक की अर्थव्यवस्थाएँ इस समय बारूद के ढेर पर बैठी हैं। स्पेन, पुर्तगाल, आयरलैण्ड, फ्रांस, इटली और अन्य यूरोपीय देशों में कर्ज संकट ने इसी तरह कहर बरपाया है।

मई में स्पेन, जर्मनी, फ्रांस, इटली और नीदरलैण्ड की विकास दर क्रमशः 0.1, 0.2, 0.1, 0.5 और 0.2 प्रतिशत रही। 2009 में पुर्तगाल का बजट घाटा जीडीपी का 9.4 प्रतिशत था। पुर्तगाल ने भी वेतन कटौती और छँटनी की कार्रवाई की। दूसरी ओर स्पेन के सम्पत्ति बाजार में तब आयरलैण्ड की तरह ही विस्फोट हो गया, जब वैश्विक वित्तीय संकट ने आघात किया। इससे स्पेन लगभग दो साल की गहरी मन्दी में डूब गया, जिससे सरकारी खजाने पर बहुत भारी दबाव पड़ा। आज यूरोपीय संघ में सबसे अधिक बेरोजगारी स्पेन में है, जो 20 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है। स्पेन की सरकार द्वारा घाटे की भरपाई के लिए 15 अरब यूरो की बचत की घोषणा करते ही लोगों का असन्तोष फूट पड़ा। वेतन कटौती के खिलाफ जून में बारसेलोना, मैड्रिड, वैलेन्सिया आदि में कर्मचारियों ने हड़तालें की। फ्रांस के श्रम मन्त्रालय ने इस साल भारी संख्या में लोगों के रिटायर होने के चलते पेन्सन कार्यक्रमों में 40 अरब डॉलर के खर्च का अनुमान लगाया है। इस घाटे से बचने के लिए वहाँ सेवानिवृति की उम्र 60 से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दी गयी। जर्मनी ने इसे 65 से बढ़ाकर 67 वर्ष कर दिया, जबकि ब्रिटेन और इटली ने सेवानिवृति की उम्र 65 वर्ष कर दी। कमोबेश सभी संकटग्रस्त यूरोपीय देशों ने पहले से जारी कल्याणकारी योजनाओं में भारी कटौती की है।

पूँजीपतियों ने समस्या का क्या समाधान पेश किया?

इस संकट का समाधान करने के लिए पूँजीवादी सरकारों द्वारा आजमाये जा रहे सुधार के उपायों की सफलता और सीमा समझना जरूरी है। 2008-09 की मन्दी में बड़े बैंकों की बरबादी को देखते हुए कुछ अर्थशास्त्री मानते हैं कि संकट से बचाव के लिए बैंकों के आकार और कार्यक्षेत्र को सीमित कर देना चाहिए क्योंकि मन्दी में सबसे पहले बड़े बैंक धराशायी हुए थे और उनकी विराटता के अनुरूप नुकसान भी बहुत बड़े पैमाने पर था। जब सरकार ने इन्हें भारी बचाव पैकेज दिया तो इनसे जुड़े वित्तीय सटोरियों के हौसले और बुलन्द हो गये। सटोरियों ने अपनी जुएबाजी की प्रवृत्ति से भविष्य में अपने वाले संकट की भयावहता को बहुत बढ़ा दिया है। लेकिन यह सोचना भ्रामक है कि छोटे बैंक होने से संकट टल जायेगा, क्योंकि 1930 की महामन्दी में छोटे बैंक ही बरबाद हुए थे। बैंको को कड़े मानदण्डों पर कसने की बात भी सम्भव नहीं है क्योंकि मानदण्डों को लागू करने वाली सरकार के साथ इनकी साँठ-गाँठ होती है। फिर भला वे अपने ऊपर शिकंजा क्यों कसवाना चाहेंगे।

यूनान में व्याप्त भ्रष्टाचार को आर्थिक संकट का कारण बताने वाले लोग भ्रष्टाचार उन्मूलन को इस संकट का समाधान बताते हैं। यह बात सही है कि यूनान में बहुत बड़े स्तर पर टैक्स चोरी होता है और भूमिगत काले धन की विशाल अर्थव्यवस्था है। पूँजीपति टैक्स जमा नहीं करते और सरकारी खर्च कर्ज लेकर पूरा किया जाता है। लेकिन ये सभी तथ्य संकट को घनीभूत तो करते हैं, लेकिन संकट का मूल कारण नहीं हैं क्योंकि कुशल प्रशासन वाली पूँजीवादी व्यवस्थाएँ भी आर्थिक संकट की शिकार होते देखी गयी हैं।

दो देशों के बीच व्यापार असन्तुलन की स्थिति में नुकसान उठाने वाले देश की अपेक्षा फायदा उठाने वाले देश की मुद्रा मजबूत हो जाती है जिससे उसकी माँग बढ़ जाती है और उस देश का निर्यात कम होने लगता है और इस तरह शीघ्र असन्तुलन समाप्त हो जाता है। लेकिन संकटग्रस्त सभी यूरोपीय देश चूँकि एक ही मुद्रा यूरो में व्यापार करते हैं इसलिए व्यापार असन्तुलन बढ़ता ही गया। आन्तरिक बचत करके और देशों के बीच पूँजी के प्रवाह को रोककर भी मन्दी की भयावहता को कम किया जा सकता है। साथ ही ब्याज दर बढ़ाकर घरेलू बचत को प्रोत्साहित किया जा सकता है। लेकिन इससे अर्थव्यवस्था धीमी हो जाती है और सरकार द्वारा धन जमा करने वाले व्यक्ति को अधिक ब्याज देना पड़ता है। ये सभी समाधान मन्दी को टालकर भविष्य में उसे और वीभत्स रूप में उभरने का मौका देते हैं।

ये सभी तरीके कारगर नहीं हुए। बिना बचाव पैकेज के यूनान की अर्थव्यवस्था बर्बाद हो जाती। जब अमरीका में

मन्दी आयी तो उसने 1300 अरब डॉलर के नोट छापकर और बकाया कर्ज खरीदकर संकट को कम किया। यूरो क्षेत्र में शामिल यूनान इस संकट का सामना अकेले नहीं कर सकता था, क्योंकि वह यूरो नहीं छाप सकता। फिर तो यह तह था कि यूरो संक्रमण के जरिये यह बीमारी पूरे यूरोप में फैल जाती। यूनान के दिवालिया होते ही निवेशकों का अन्य यूरोपीय देशों से मोह भंग हो जाता। इस बार बैंकों के बजाय सरकारों के दिवालिया होने की बारी थी। अमरीका भी बचाव पैकेज के पक्ष में था क्योंकि उसके हजारों अरब डॉलर यूरोप में फँसे हुए थे। इस तरह यूरोप के बर्बाद होते ही स्वास्थ्य लाभ ले रही अमरीकी अर्थव्यवस्था फिर से ध्वस्त हो जाती । परिणामस्वरूप मई में यूरोपीय संघ और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष ने संयुक्त रूप से यूनान को निजी बैंकों का कर्ज चुकाने के लिए 1000 अरब डॉलर दिये, जिसके बदले यूनान तीन सालों में 42 अरब डॉलर के अतिरिक्त बजट कटौती की शर्त पर राजी हुआ। जर्मनी ने भी बचाव पैकेज को मंजूर किया, जिसका दुष्प्रभाव यह हुआ कि जर्मन चान्सलर एण्जेला मार्केल की केन्द्रीय दक्षिणी गठबन्धन पार्टी उत्तरी राईन वेस्टफालिया में चुनाव हार गयी। ऊपरी सदन में इसके चलते इनके गठबन्धन का बहुमत नहीं रहा। बचाव पैकेज देने वाले देशों की जनता ने भी इसका विरोध किया है। बचाव पैकेज खुद ही राजनीतिक और आर्थिक संकटों को जन्म दे रहा है।

बहुत पहले ही विकसित देशों में पूँजीवाद के अन्तरविरोध अत्यधिक तीव्र हो गये थे। आर्थिक संकट से अर्थव्यवस्था तबाह हो रही थी। पूँजी और श्रम के बीच संघर्षों को टालने और मन्दी से तात्कालिक छुटकारे के लिए कल्याणकारी राज्य की अवधारणा लागू की गयी। मजदूरों का वेतन बढ़ाया गया, उन्हें बेहतर सुविधाएँ दी गयी और उपभोक्तावाद को खूब प्रचारित-प्रसारित किया गया। अमरीका और यूरोप के देश अति-विलासिता की चरम सीमा पार कर गये। उपभोग से कम उत्पादन के बावजूद उनकी अर्थव्यवस्था चलती रही। कई मामलों में कम उत्पादन के बावजूद अधिक उपभोग बरकरार रखने के लिए निर्यात की तुलना में आयात में तेज वृद्धि हुई। इससे पुर्तगाल, यूनान और स्पेन का बजट घाटा क्रमशः 18.6, 34.4 और 69.5 अरब डॉलर तक पहुँच गया। ऐसा ही व्यापार घाटा अमरीका को भी हुआ। इसके क्या निहितार्थ हैं? यह जानते हुए भी कि बरबाद होती सरकारों से कर्ज वापस मिलना बेहद मुश्किल है। क्या निजी पूँजीपतियों ने सरकारों को अपनी सम्पत्ति समाज कल्याण के लिए दान में दी थी, क्या पूँजीवाद ''संतोषम् परम् सुखम्'' के आध्यात्मिक सुभाषित पर चलता रहा। नहीं, वे सरकार को दिये कर्ज की एक-एक पाई वसूलेंगे। उन्होंने अपना कर्ज मेहनतकश जनता से वसूलना शुरू कर दिया है। सबसे पहले सरकार ने कल्याणकारी योजनाओं पर हमला किया है। टैक्स बढ़ाकर, वेतन कटौती करके, सेवानिवृति की आयु बढ़ाकर और शिक्षा, स्वास्थ्य व सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने में होने वाले खर्च पर पूँजी का फंदा कस दिया है। दूसरी ओर निजी पूँजीपति कौड़ी के मोल राष्ट्र की सम्पत्ति खरीदकर जनता की सार्वजनिक सम्पत्ति हड़पेंगे। यूनान ने संकट से उबरने के नाम पर अपने 1235 एकड़ रकबा वाले नाफसिका द्वीप को 2.1 करोड़ डॉलर में बेचने का फैसला किया है।

स्पष्ट है कि ये सभी इलाज पूँजीवाद के रहते मन्दी का समाधान नहीं कर सकते। जून 2010 में समपन्न हुए जी-8 और जी-20 देशों का सम्मेलन बिना किसी नतीजे के ही समाप्त हो गया। क्षतिपूर्ति होने तक वित्तीय कसावट जारी रखने के लिए अमरीका यूरोप को राजी नहीं कर सका। कई अर्थशास्त्री मानते हैं कि यूरोप का सम्प्रभु कर्ज संकट द्विआवर्ती संकट से अधिक गम्भीर है। आज दुनियाभर के साम्राज्यवादियों के हाथ-पैर फूल रहे हैं क्योंकि उन्हें अपना अन्त निकट दिख रहा है। पूँजीवाद आज मजदूर आन्दोलनों में फूट और बिखराव डाल कर उसके बदले में मिली उम्र जी रहा है।

कल्याणकारी योजनाओं पर हमले ने विकसित देशों के मजदूरों को अपने पूँजीपति स्वामियों के खिलाफ खड़े होने के लिए बाध्य कर दिया है। इस बात को भाँपते हुए साम्राज्यवादी अपना संकट तीसरी दुनिया पर थोपने की कोशिश और तेज करेंगे। हमारे यहाँ के धोखेबाज शासक उनके साथ साँठ-गाँठ करेंगे। क्या हमारे देश की मेहनतकश जनता इसके खिलाफ खड़ी होगी? इन्ही अन्तरविरोधों के बीच दुनिया संचालित हो रही है। पूँजीवाद अपने अन्त की ओर तेजी से बढ़ रहा है और इतिहास अपने बेहतर भविष्य की ओर। ❑

ईरान पर अमरीकी दादागिरी

❑दिनेश

ईरान के खिलाफ महीनों तक विष वमन करने के बाद अन्ततः अमरीका ने 9 जून को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में ईरान के खिलाफ कठोर प्रतिबन्ध का प्रस्ताव पारित करा लिया। इसके कारण ईरानी बैंक अन्तरराष्ट्रीय बाजार में कारोबार नहीं कर पायेंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ ने चालीस ईरानी कम्पनियों और निगमों पर प्रतिबन्ध लगाया है जिनमें से 15 कम्पनियों को ईरान के रिवोल्यूशनरी गार्ड के साथ सम्बन्ध होने के बहाने प्रतिबन्धित किया गया है। प्रस्ताव के तहत ईरान आने और जाने वाले जहाजों की तलाशी ली जा सकती है। ईरान को किसी भी तरह के हथियार की आपूर्ति और परमाणु हथियारों के लिए बैलेस्टिक मिसाइलों के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध है।

ईरान के खिलाफ प्रतिबन्धों को सर्वसम्मति से पारित कराने की अमरीकी मंशा पूरी नहीं हुई, क्योंकि सुरक्षा परिषद के दो सदस्यों ब्राजील और तुर्की ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। चीन और रूस की असहमति के चलते अमरीका को मजबूरी में कुछ नरमी लानी पड़ी। इसके बाद अमरीका और यूरोपीय संघ ने ईरान पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाने का एक तरफा फैसला किया। अमरीकी दवाब में आकर भारत की रिलायन्स जैसी कम्पनियों ने प्रतिबन्ध लागू होने से पहले ही ईरान के साथ व्यापार बन्द कर दिया, जबकि काफी महत्त्वपूर्ण मानी जा रही भारत-पाकिस्तान-ईरान गैस पाइपलाइन भारत सरकार की अमरीकापरस्ती के कारण पहले ही खटाई में पड़ गयी थी। भारत द्वारा गुट निरपेक्ष का परित्याग कर अमरीकी विदेश नीति का पिछलग्गू बन जाने का यह अवश्यंभावी परिणाम है।

ईराक पर हमला करने से पहले अमरीका ने ईराक के पास नाभिकीय और जैविक हथियार होने का बवण्डर खड़ा कर उसे बदनाम किया था और इसी का बहाना बनाकर आर्थिक घेराबन्दी की थी। इसके कारण आर्थिक रूप से टूट चुके इराक को परास्त करना अमरीका के लिए अपेक्षतया आसान हो गया। अमरीका के इन सभी कुकर्मों में संयुक्त राष्ट्र संघ ने भरपूर सहायता की। अब ईरान के साथ भी शायद वह ऐसी ही उम्मीद लगाये बैठा है। लेकिन ईरान पर हमला करने और उसे अपने वश में करने के लिए अमरीका को नाकों चने चबाने पड़ सकते हैं, क्योंकि ईरान एक लोकतान्त्रिक देश है और राष्ट्रपति अहमदीनेजाद को वहाँ के लोगों का प्रबल समर्थन प्राप्त है। सद्दाम हुसैन की स्थिति ऐसी नहीं थी। दूसरी ओर, ब्राजील और तुर्की के अलावा भी तीसरी दुनिया के कई देशों का समर्थन और सहानुभूति ईरान के साथ है। रूस और चीन के आर्थिक हित भी उसके साथ जुड़े हुए हैं। अमरीका द्वारा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उसे अलग-थलग करने का प्रयास भी सफल नहीं हुआ।

ब्राजील की सरकार ने प्रतिबन्धों पर प्रतिक्रिया करते हुए कहा कि अतिरिक्त प्रतिबन्ध ईरान की आम जनता के हितों पर हमला है और शान्ति प्रक्रिया में बातचीत के विरोधी लोगों के हाथों में खेलने जैसा है। इस मामले में संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्यों के व्यवहार से खफा तीसरी दुनिया और लातिन अमरीकी देशों की तरफ से ईरानी संकट को सुलझाने की पहल ब्राजील और तुर्की ने की। इन्हीं की पहल से ईरान के परमाणु कार्यक्रमों से सम्बन्धित भ्रम भी कुछ हद तक दूर हुआ।

ब्राजील, तुर्की और ईरान के बीच मई में हुए समझौते के अनुसार ईरान अपने नाभिकीय भण्डार का आधा हिस्सा तुर्की को भेजेगा। बदले में कैंसर मरीजों के उपचार के काम आने वाली अत्यन्त समृद्ध नाभिकीय ईंधन की छड़ उसे तुर्की से प्राप्त होगी। यह समझौता अमरीका और उसके संगी-साथियों के प्रस्तावों के अनुरूप है क्योंकि ईरान इस समय यूरेनियम को केवल 20 प्रतिशत तक ही संवर्धित कर पा रहा है। एक आकलन के अनुसार यह संवर्धन नाभिकीय हथियार बनाने के लिए जरूरी 95 प्रतिशत से कम है, फिर भी अमरीका ने इस समझौते को खारिज कर दिया है। असल में प्रतिबन्धों के लिए नाभिकीय मुद्दा एक झूठा आरोप और बहाना-मात्र है। ईरान अमरीकी वर्चस्व को स्वीकार नहीं करता है। इस बात से खार खाया हुआ साम्राज्यवादी अमरीका ईरान को सबक सिखाना चाहता है। पूरे इलाके में केवल इजराइल के पास

परमाणु बम है। यह बात दुनिया जानती है। लेकिन इससे अमरीका को कोई परेशानी नहीं है क्योंकि इजराइल अमरीका का दुलारा है। प्रतिबन्धों का प्रस्ताव पारित हो जाने के बाद अमरीकी राष्ट्रपति ओबामा ने लफ्फाजी करते हुए कहा कि ''ये प्रतिबन्ध नाभिकीय हथियार बनाने के प्रसार को रोकने की अन्तरराष्ट्रीय समुदाय की वचनबद्धता को जाहिर करते हैं। दुनिया में दुहरा मानदण्ड नहीं है।'' सच्चाई यह है कि दुनिया की हर बड़ी शक्ति के पास परमाणु हथियारों का जखीरा है जिसके बल पर वे कमजोर देशों पर दवाब बनाने में सफल होते हैं। जब तक ये देश अपने इस जखीरे को खत्म नहीं करेंगे तब तक इस खतरनाक खेल का अन्त सम्भव नहीं। लेकिन वे चाहते हैं कि कोई भी अन्य देश नाभिकीय क्षमता हासिल न कर सके, ताकि उनकी दादागिरी चलती रहे। क्या यह दुहरा मानदण्ड नहीं है? पश्चिमी एशिया में अपना दबदबा बरकरार रखने के लिए अमरीका ने अपने लठैत इजराइल को सर से पाँव तक परमाणु हथियारों से लाद दिया है, जबकि ईरान का शान्तिपूर्ण और असैनिक परमाणु कार्यक्रम भी उसे फूटी आँख नहीं सुहा रहा है। यह कौन-सा मानदण्ड है? ईरान की सर्वोच्च राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद ने कहा कि परमाणु शक्ति सम्पन्न अमरीका और दूसरे देशों ने ईरान को दण्डित किया है जबकि उसके पास नाभिकीय हथियार भी नहीं है। इजराइल के पास नाभिकीय हथियार होने के बावजूद साम्राज्यवादी देश उसका समर्थन करते हैं, उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते हैं, जबकि उसने अभी तक नाभिकीय अप्रसार सन्धि (एनपीटी) पर हस्ताक्षर भी नहीं किया है। ईरान इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुका है और यह सन्धि किसी भी देश को शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए नाभिकीय ऊर्जा के उपयोग की अनुमति देती है।

अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने कहा कि छोटे से यहूदी राज्य इजराइल के पास 200-300 नाभिकीय हथियार हैं। दूसरी ओर फोर्ब्स पत्रिका ने बताया कि नाभिकीय बम बनाने में उपयोगी 22 टन यूरेनियम-235 अमरीकी प्रयोगशाला से इजराइल भेजा गया। इसके बावजूद नाभिकीय अप्रसार सन्धि की मई बैठक में जब बहुमत ने इस बात पर जोर दिया कि इजराइल इस सन्धि पर हस्ताक्षर करे और पश्चिमी एशिया को नाभिकीय हथियार से मुक्त क्षेत्र बनाया जाय तो ओबामा के अधिकारियों ने इसका विरोध करते हुए कहा कि एनपीटी के सम्मेलन में नाभिकीय हथियार से मुक्त पश्चिमी एशिया की बात करना गलत है। साथ ही इजराइल के परमाणु हथियारों को जायज ठहराते हुए उन्होंने इसे छोटे-से देश इजराइल की सुरक्षा जरूरतों के लिए जरूरी बताया। अमरीका की नाभिकीय परिस्थिति समीक्षा संस्था की रिपोर्ट के अनुसार अमरीका वास्तव में अपनी नाभिकीय क्षमता को मजबूत कर रहा है और अपने हथियारों के जखीरे में और अधिक घातक पारम्परिक हथियार शामिल कर रहा है, जो दुनिया के किसी भी लक्ष्य को एक घण्टे के अन्दर भेद सकते हैं।

स्थिति यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि जब इजराइल ने गाजा पर आक्रमण किया और कई बेकसूर लोगों को मौत के घाट उतार दिया, तब भी संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने इजराइल के इस युद्ध-अपराध के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की। इजराइली सेना ने जब गाजा में फिलिस्तीनी जनता के लिए सहायता-सामग्री ले जा रहे दुनिया भर के शान्ति कार्यकर्ताओं का कत्लेआम किया, तो सुरक्षा परिषद ने इस बर्बर कुकृत्य की निन्दा करने से इन्कार किया जबकि सुरक्षा परिषद के अधिकांश सदस्य इजराइल के खिलाफ कार्रवाई की माँग कर रहे थे। ऐसे में ईरान को अपने नाभिकीय कार्यक्रम जारी रखने से रोकने का भला सुरक्षा परिषद या अमरीका के पास कोई नैतिक आधार है?

रूस और चीन ने इस मुददे पर अमरीका का साथ दिया जो उनकी अपनी वैश्विक महत्त्वकांक्षाओं के ही अनुरूप है। शायद रूस को यह डर सता रहा है कि यदि ईरान परमाणु शक्ति सम्पन्न हो गया तो नाभिकीय हथियार अन्य मुस्लिम देशों के हाथ लग सकते हैं, जो भविष्य में उसके लिए खतरा बन सकता है। हालाँकि अमरीका और यूरोपीय संघ द्वारा अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाये जाने का रूस ने विरोध किया और कहा कि ऐसा करके ये देश खुद को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद से ऊपर बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं और ईरान के नाभिकीय कार्यक्रम को रोकने के अन्तरराष्ट्रीय प्रयासों को जोखिम में डाल रहे हैं। सुरक्षा परिषद में प्रस्ताव पास होने के बाद रूस अब ईरान को ताकतवर एस-300 वायु सुरक्षा मिसाइल नहीं दे सकेगा, जबकि रूस ने 2007 के समझौते में ईरान को इसकी आपूर्ति का फैसला लिया था।

ईरान की अर्थव्यवस्था कुछ सालों से ठहरावग्रस्त है। वहाँ 7.3 करोड़ की जनसंख्या में से एक करोड़ से ज्यादा लोग बेहद गरीबी के शिकार हैं। ऐसी स्थिति में ईरान पर प्रतिबन्ध लगाने से इस देश की स्थिति और अधिक दयनीय हो जायेगी। इसके बावजूद यूरोपीय संघ ने कच्चे तेल और प्राकृतिक गैस के तरलीकरण व शोधन में उपयोगी तकनीक

की आपूर्ति पर रोक लगा दी है। ईरान के पास तेल शोधन क्षमता न होने के कारण उसे खुद ही तेल और गैस के आयात पर निर्भर रहना पड़ता है जबकि वह भारी मात्रा में कच्चे तेल का निर्यात करता है। अमरीका और यूरोपीय संघ द्वारा तकनीक पर प्रतिबन्ध पर्यावरण की दृष्टि से भी हानिकारक है क्योंकि यदि ईरान खुद तेल-शोधन करता तो उसे कच्चा तेल निर्यात करने और शोधित तेल आयात करने की जरूरत नहीं पड़ती। इस तरह तेल लाने-ले जाने के दौरान जो प्रदूषण होता है, उससे बचा जा सकता था।

अगस्त महीने में यह भी जाहिर होने लगा कि मामला प्रतिबन्धों तक ही सीमित नहीं है। अमरीका अपने नापाक कदम आगे बढ़ा चुका है। उसके नौसैनिक ईरान के समुद्र तट के पास पहले से तैनात हैं। वायुयान वाहक यूएसएस हैरी ट्रूमैन ईरान के समुद्र तट के पास, हेरमुज रणनीतिक जलडमरूमध्य के नजदीक यूएसएस ड्वीट आइजेनहावर के साथ जा मिला है। इजराइल के लड़ाकू जहाज जून में ही स्वेज नहर पार कर गये थे और अब वे फारस की खाड़ी की ओर बढ़ रहे हैं। सम्भव है कि इजराइल ईरान की कार्रवाई से पहले ही उस पर आक्रमण करे और सऊदी अरब अपनी जमीन इस काम के लिए अपने यहाँ से इजराइल को जमीनी सुविधाएँ उपलब्ध कराये। अमरीका द्वारा इजराइल को उकसाने की कोशिश जारी है। साथ ही, अमरीकी और यूरोपीय मीडिया दिन-रात ईरान के खिलाफ दुष्प्रचार की मुहिम चला रहे हैं।

फिदेल कास्त्रो ने चेतावनी दी है कि दुनिया पर नाभिकीय महाविध्वंस का खतरा मँडरा रहा है। अमरीका और ईरान में से कोई भी पीछे नहीं हट सकता, क्योंकि इनमें से एक, दुनिया में सबसे शक्तिशाली होने के मद में चूर है, तो दूसरा अत्याचार के खिलाफ संघर्ष का हौसला और क्षमता रखने के कारण पीछे नहीं हटेगा। उनका मानना है कि अत्यन्त निष्ठुर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने जून में ईरान के खिलाफ प्रस्ताव पास करके बातचीत के जरिये कोई रास्ता निकालने की सम्भावना को लगभग खत्म कर दिया। अब ईरान के पास पलटवार करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है।

कई सालों से आर्थिक मन्दी की मार झेल रहा अमरीका अपनी अर्थव्यवस्था में सुधार करके इस समस्या को हल करने में असफल रहा है। इसके लिए कूटनीतिक तरीके से वह पुराने साम्राज्यवादी उपाय युद्ध, विनाश और पुनर्निर्माण पर जोर बढ़ा रहा है ताकि उसके हथियार उद्योग की धुकधुकी चलती रहे। इसलिए अफगानिस्तान में मात खाने के बावजूद वहाँ से पैर खींचने के बजाय वह और अधिक आक्रामक रुख अपना रहा है। ईरान के नाभिकीय मुद्दे को उछालकर वह उसे लगातार धमकी दे रहा है और उस पर आक्रमण करने की तैयारी उसने और उसके लठैत इजराइल ने पूरी कर ली है। आक्रमण कभी भी हो सकता है। इस परिस्थिति में कुछ नये सवाल उभर रहे हैं। जैसे क्या रूस और चीन अपने आर्थिक सहयोगी ईरान को यूँ ही लुटने-पिटने देंगे? तुर्की और ब्राजील ईरान से अपने दोस्ताना सम्बन्ध कहाँ तक निभायेंगे? क्या इस युद्ध को टाला जा सकता है? युद्ध होने की स्थिति में दुनिया का ध्रुवीकरण कैसा होगा और कौन-से नये समीकरण उभरेंगे? आने वाला समय ही इन सवालों के जवाब देगा, लेकिन इतना तय है कि यह युद्ध खुद अमरीका के लिए और उसकी चौधराहट वाली एक ध्रुवीय साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के लिए काफी महँगा साबित होगा। ❑

मेट्रो रेल बनाने में कुल 109 मजदूरों की मौत

दिल्ली मेट्रो रेल कार्पोरेशन के निर्माण स्थलों पर अब तक 109 मजदूरों की मौत हो चुकी है। मेट्रो अधिकारियों ने *पिपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स* (पीयूडीआर) को दिये गये एक हलफनामे में इस तथ्य को स्वीकार किया, जिसे मजदूरों की दुर्दशा के बारे में दिल्ली उच्च न्यायालय में दायर एक जनहित याचिका की सुनवाई के दौरान 1 सितम्बर को प्रस्तुत किया गया। श्रम विभाग राष्ट्रमण्डल खेलों के लिए होने वाले निर्माण के दौरान 2003 के बाद से अब तक दुर्घटना में मरने वाले कुल मजदूरों की संख्या सिर्फ 45 ही बताता रहा है, जबकि केवल मेट्रोरेल निर्माण के दौरान ही 109 लोग मर चुके है। मरने वाले मजदूरों के परिवारों को 1.5 से 6 लाख तक मुआवजा दिया गया जो इस सम्बन्ध में बरते जा रहे भेद-भाव को दर्शाता है। इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि मजदूरों के कल्याण के प्रति सरकारी विभाग कितने ला परवाह और हृदयहीन हैं। मजदूरों की हिफाजत की तो बात ही क्या, वे उनकी लाशों का सही हिसाब भी नहीं रखते।

अफगान-युद्ध के दलदल में अमरीका

□आदित्य

अमरीका ने अफगानिस्तान में तैनात अपने सैनिक जनरल मैकक्रिस्टल को हाल ही में पद से हटा दिया। ''रोलिंग स्टोन'' पत्रिका में छपे अपने अमरीका-विरोधी बयान में उसने ओबामा की आलोचना की थी और कहा था कि यही स्थिति बनी रही तो अफगानिस्तान में अमरीका का जीत पाना सम्भव नहीं होगा। इसी बयान को आधार बनाकर उसे बर्खास्त किया गया, लेकिन मैकक्रिस्टल की बर्खास्तगी के वास्तविक कारण कहीं गहरे हैं।

अफगानिस्तान में अपनी दुगर्ति को देखते हुए अमरीका अपनी रणनीति बदल रहा है। जुलाई में काबुल में एक दिवसीय डोनर्स कान्फ्रेंस में 70 से ज्यादा देश शामिल हुए जिसमें अमरीका ने करजई सरकार का भरपूर समर्थन करने और देश में शान्ति स्थापना के लिए तालिबान को बातचीत में शामिल करने की पेशकश की। अमरीका आखिर पाकिस्तान के जरिये तालिबान को बातचीत की मेज पर क्यों लाना चाहता है? इसे समझने के लिए यह तथ्य काफी है कि पिछले साल की तुलना में 2010 का साल नाटो सैनिकों के लिए अधिक घातक साबित हुआ है। जून 2010 में ही तालिबान के खिलाफ जंग में 100 नाटो सैनिको की जान गयी। दूसरी और जीत की आस में तालिबान सैनिकों के हौसले बुलन्द हैं। अफगानिस्तान और पाकिस्तान सरकार को आतंकवाद के खिलाफ युद्ध के नाम पर दी जाने वाली अरबों डॉलर की अमरीकी सहायता भी बेअसर साबित हो रही है।

पराजय की ओर अग्रसर पश्चिमी शक्तियाँ तालिबान से मेल-मिलाप करना चाहती हैं। वैसे भी तालिबान का पाकिस्तान में काफी प्रभाव है। ऐसी खबरें आयी हैं जिनमें पाकिस्तानी सेना से और वहाँ की खुफिया एजेन्सी आईएसआई से तालिबानियों की नजदीकी जाहिर हुई है। हाल ही में दो उच्च पदस्थ तालिबानी योद्धाओं को पाक सेना के अधिकारियों ने रिहा कर दिया, जिन्हें अमरीका जेल के अन्दर देखना चाहता था। ऐसा लगता है कि मुशर्रफ जैसी अमरीकी वफादारी से हटकर जनरल कियानी की प्राथमिकता पाकिस्तानी सेना है। पाकिस्तानी सेना और आतंकवादियों के गँठजोड़ का आलम यह है कि अगस्त 2008 में बुश के पास शिकायत पहुँची कि अलकायदा और तालिबान के बारे में कोई भी सूचना पाकिस्तान से सीधे आतंकवादियों के पास पहुँचती है।

सुशासन, कानून-व्यवस्था, भ्रष्टाचार की रोकथाम और लोकतन्त्र जैसे लुभावने शब्दों की आड़ में अफगानिस्तान में अमरीका चाहे जितना भी आतंक मचा ले, लेकिन सच्चाई यही है कि वह वहाँ के दलदल में बुरी तरह फँस चुका है। जुलाई 2010 तक नाटो सेनाओं के अफगानिस्तान छोड़ने का कार्यक्रम खटाई में पड़ गया है। अफगानिस्तान में अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए अमरीकी कांग्रेस ने 58.8 अरब डॉलर के व्यय की मंजूरी दी है। गौरतलब है कि अफगानिस्तान युद्ध में अमरीका अब तक 1000 अरब डॉलर से ज्यादा रकम गँवा चुका है। दूसरी तरफ मैकक्रिस्टल की जगह जनरल पेट्रियास की अफगानिस्तान में तैनाती के साथ-साथ अमरीका वहाँ 30,000 और फौजें भेजेगा। इसके लिए वह इराक से 50,000 फौजें हटायेगा। इराक के बगदाद शहर में भी स्थिति काबू से बाहर है। पिछले दिनों हुए आत्मघाती हमलों में वहाँ सैकड़ों लोग मारे गये और हमले अभी जारी हैं।

जनवरी 2010 में लन्दन में 60 देशों के सम्मेलन में जर्मन चान्सलर ने कहा कि सालों से अफगानिस्तान के खिलाफ जारी अभियान में अमरीकी नेतृत्व में नाटो बल अब तक अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सका है। एक तरफ वे अफगानिस्तान में हुए जान माल के नुकसान पर घड़ियाली आँसू बहाती हैं और दूसरी ओर वहाँ 500 अतिरिक्त जर्मन सैनिकों को भेजने को पूरी तरह जायज ठहराती हैं। इन बातों से पता चलता है कि साम्राज्यवादियों की स्थिति साँप-छुछुन्दर की हो गयी है, उसे न तो निगलते बन रहा है और न उगलते। अगर नाटो सेना अफगानिस्तान से बैरंग लौट जाती है तो पूरी दुनिया में उसकी गुण्डागर्दी का खौफ खत्म हो जायेगा। मन्दी का शिकार अमरीका वहाँ का भारी सैन्य खर्च उठाने में असमर्थ होता जा रहा है। इस मद में पाकिस्तान को दी जाने वाली आर्थिक मदद में देरी हो रही है। दूसरी तरफ तालिबान की फिर से बढ़ती ताकत और प्रभाव के कारण इन देशों का सैन्य खर्च काफी तेजी से बढ़ा है। पाकिस्तान और अफगानिस्तान के भ्रष्ट सैन्य आधिकारियों ने भी अमरीका की मुश्किलें बढ़ा दी हैं। युद्ध में खर्च के लिए भेजी जाने वाली अमरीकी धनराशि को ये अधिकारी दबाकर बैठ जाते हैं। इससे बौखलाया अमरीका भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए कड़ी ऑडिट प्रक्रिया शुरू करने वाला है। साथ ही वह अफगानिस्तान के स्थानीय समुदाय के सरदारों और सरगनाओं

को आर्थिक मदद भी देगा ताकि वे अमरीका का समर्थन करें। इस बात से हामिद करजई की अपंग राष्ट्रीय सरकार और कमजोर हो जायेगी।

आतंकवाद के खिलफ अमरीकी युद्ध का साथ देने वाला पाकिस्तान आज इसकी कीमत चुका रहा है। पाकिस्तान में जगह-जगह आत्मघाती आतंकवादी हमलों में सेना और पुलिस के सैकड़ों जवान मारे जा चुके हैं। कहने की जरूरत नहीं कि ये हमले पाकिस्तान द्वारा अफगानिस्तान में अमरीकी हमलावरों का साथ देने की प्रतिक्रिया है। इन हमलों ने पाकिस्तानी प्रशासन की नाक में दम कर रखा है। वहाँ की जनता भी इससे त्रस्त है। उत्तरी-पश्चिमी पाकिस्तानी में सक्रिय तालिबानियों को जबसे अमरीकी सेना ने अपने ड्रोन हमलों का निशाना बनाया है, तभी से तालिबान ने अपने आत्मघाती हमले तेज कर दिये हैं। इन दोनों के बीच की लड़ाई में पाकिस्तान की निर्दोष जनता पिस रही है।

पाकिस्तानी सेना दोहरा खेल खेल रही है। एक तरफ वह अमरीकी अभियान की सहयेगी है तो दूसरी ओर अन्दर ही अन्दर तालिबान के साथ भी उसके नजदीकी रिश्ते है। उत्तरी वजीरिस्तान में सक्रिय तालिबान के सिराजुद्दीन हक्कानी गुट पर पाकिस्तानी सेना ने हमला नहीं किया। हाल ही में पाकिस्तानी सेनाध्यक्ष जनरल कियानी ने काबुल का दौरा कर राष्ट्रपति करजई से हक्कानी की बातचीत करवाई है। मेल-मिलाप की इस प्रक्रिया से अमरीका को एक हद तक एतराज है क्योंकि हक्कानी गुट अलकायदा प्रमुख ओसामा बिन लादेन का काफी करीबी माना जाता हैं और सम्भवतः हक्कानी की मदद से अलकायदा इन देशों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में कामयाब हो जाय। नाटो चाहता है कि तालिबान अलकायदा से सम्बन्ध तोड़ ले, लड़ाई बन्द कर दे और अफगानिस्तान के मौजूदा संविधान को स्वीकार करे। जबकि तालिबान की मंशा है कि अफगानी जमीन से सभी विदेशी शक्तियाँ हट जायें, जेलों में बन्द उसके सिपाहियों को रिहा कर दिया जाये और संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद की खास सूची से उसके प्रबिन्धित नेताओं के नाम हटा दिये जायें। तालिबान द्वारा अफगानिस्तान की सत्ता सँभालने में तालिबान और नाटो के बीच समझौते में अवरोध के अलावा दूसरी कठिनाइयाँ भी कम नहीं हैं। तालिबान पश्तून आधारित आन्दोलन है और पश्तून अफगानी जनसंख्या का आधा हिस्सा है। पश्तून समर्थन के बावजूद तालिबानियों को ताजिक, उज्बेक, हेजारा और अन्य अल्पसंख्यक समूहों का तीखा विरोध झेलना पड़ सकता है। रूस, भारत और सम्भवतः ईरान भी नहीं चाहते कि अफगानिस्तान की सत्ता तालिबान के हाथ में जाये। अफगानिस्तान में लगातार तालिबानी हमले से भारतीय निर्माण कार्य भी संकट में पड़ रहे हैं। भारतीय पूँजीपतियों और सरकार ने ऊर्जा, सड़क निर्माण और मूलभूत ढाँचे में लगभग छः हजार करोड़ रुपये का निवेश किया है, जिनमें वहाँ 3500 भारतीय काम कर रहे हैं। अफगानिस्तान के पुनर्निर्माण के नाम पर भारतीय शासक वहाँ अपना प्रभाव जमाने की फिराक में हैं। यहाँ के पूँजीपतियों की नजर वहाँ उपलब्ध 1000 अरब डॉलर की खनिज सम्पदा पर लगी है। अपने देश की खनिज सम्पदा लूटकर दौलत बटोरने वाली भारत की निजी खनन कम्पनियों ने वहाँ की खनिज सम्पदा पर भी अपनी नजरें गड़ा रखी है। निश्चय ही तालिबान के सत्ता में आने पर उनकी मनोकामना पूरी नहीं होगी। भारतीय पूँजीपतियों द्वारा वहाँ विकास कार्य करवाना उनकी सदाशयता नहीं है, क्योंकि जो सरकार अपने देश की 70 प्रतिशत जनता को भूखा सोने पर मजबूर करती है वह किसी दूसरे देश की भलाई कैसे कर सकती है? भारत ही नहीं, दुनिया भर के मुनाफाखोर गिद्धों की निगाहें युद्ध-जर्जर अफगानिस्तान की खनिज सम्पदा पर है, जो मौका पाते ही उसे नोच खाने को तत्पर हैं।

2007-08 के राष्ट्रपति चुनाव अभियान में ओबामा ने अपने विरोधियों द्वारा शुरू किये गये कुख्यात इराक और अफगानिस्तान युद्ध के कुकर्मों को मुद्दा बनाकर खूब भुनाया और इसका लाभ उठाकर अमरीका का सर्वोच्च पद हासिल कर लिया। दुनिया की सर्वोच्च साम्राज्यवादी हत्यारी मशीनरी का यह नया मुखिया आज अपने विरोधी बुश की नीतियों को ही आगे बढ़ा रहा है। दुनिया की तरक्की पसन्द जनता और खुद साम्राज्यवादी देशों की जनता में भी इन साम्राज्यवादी कुकृत्यों के खिलाफ असन्तोष बढ़ रहा है।

आज अफगानिस्तान में जो परिस्थितियाँ बन रही हैं, उसमें अमरीका को निकट भविष्य में और भी बड़ी कीमत चुकानी पड़ सकती है क्योंकि मौजूदा समय में वह अफगानिस्तान में लगभग हार चुका है।

यह विडम्बना ही है कि अमरीकी साम्राज्यवाद और उसके पिट्ठुओं ने जिन इस्लामी कट्टरपन्थियों के खिलाफ आतंकवाद के अन्त का झण्डा उठाया था, आज उन्हीं के साथ हर कीमत पर हाथ मिलाने की रणनीति पर उतर आये हैं। इसके बावजूद उसे वहाँ से इज्जत बचाकर खिसकने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा है। इराक और अफगानिस्तान से वह बाहर निकलने की जितनी कोशिश कर रहा है, उतना ही उस दलदल में धँसता जा रहा है। इससे इस सच्चाई को और भी अधिक बल मिलता है कि साम्राज्यवादी अपनी ताकत पर जितना घमण्ड करें, जनता के साथ जमीनी लड़ाई की स्थिति में उनकी तबाही निश्चित है। जनता अपराजेय है। ❑

विकीलीक ने किया अमरीकी दरिन्दगी का भण्डाफोड़

□राजेश

अमरीका अफगानिस्तान में लोकतन्त्र की बहाली करने गया है या अपने नापाक साम्राज्यवादी मन्सूबे पूरा करने, यह किसी से छिपी हुई बात नहीं रह गयी है। लेकिन 25 जुलाई 2010 को विकी लीक इन्टरनेट वेबसाइट ने जब अफगानिस्तान में अमरीकी अभियान से सम्बन्धित 92,000 खुफिया दस्तावेज प्रकाशित किया तब इस बात पर मुहर लग गयी कि अमरीका दुनिया का सबसे बड़ा युद्ध अपराधी और आतंकवादी देश है। इस बात से खफा अमरीकी सरकार ने इस बेबसाइट के खिलाफ आपराधिक मामला तय करने और इससे जुड़े लोगों को दण्डित करने की चेतावनी दी हैं। जवाब में उनका कहना है कि उनपर यदि प्रतिबन्ध लगाने या कार्रवाई करने की कोशिश हुई तो वे और अधिक गोपनीय सूचनाएँ प्रकाशित करेंगे। अमरीका ने आरोप लगाया कि यह उसे बदनाम करने की साजिश है क्योंकि इस खुलासे की खबरें वामपन्थी झुकाव रखने वाले समाचार पत्र गार्जियन, न्यूँयार्क टाइम्स और डेर स्पीगेल में छपी हैं।

इस वेबसाइट ने अपनी अफगान युद्ध डायरी में यह पर्दाफाश किया है कि एक-एक करके निर्दोष लोगों को गोली मारनी हो या हवाई हमले में बम गिराकर एक साथ सैकड़ों बेगुनाहों का बेरहमी से कत्ल। दुनिया भर में इस सभ्यता के निर्यात के ठेकेदार अमरीका ने अपने बहसीपन का खुला इजहार किया है। इसको देखते हुए अन्ततः अमरीका के पिट्ठू हामिद करजई को भी यह कहना पड़ा कि अमरीका अफगानिस्तान के नागरिकों की जिन्दगी बहुत सस्ती समझता है। इस बेबसाइट ने अमरीका की दरिन्दगी के कुछ ठोस सबूत दिये हैं। जैसे 4 मार्च 2007 में शिन्वार में हुई गोलीबारी की घटना में आत्मघाती बम होने के सन्देह मात्र पर अमरीकी पनडुब्बी ने स्वचालित हथियार से 6 मील लम्बी सड़क को उखाड़ दिया तथा रास्ते में आने वाली किशोर लड़की, कार सवार और सड़क पार करते बुजुर्ग, हर किसी को निशाना बनाया। इस कत्लेआम में 19 निहत्थे नागरिकों को मार दिया गया और 50 लोग घायल हुए। सेना की रिपोर्ट में मृतकों और घायलों के बारे में कोई सूचना नहीं दी गयी और दोषी सैनिकों पर कभी कोई कार्रवाई नहीं हुई। ये बर्बर कारनामें उन अमरीकी सैनिकों के हैं, जो अफगानिस्तान में लोकतन्त्र बहाल करने और वहाँ की जनता का उद्धार करने गये हैं। 2007 की एक अन्य घटना में अमरीका की विशेष सेना के विमान ने एक अहाते में बम गिराया। अमरीकी सैन्य अधिकारियों के अनुसार इससे 150 तालिबानी मारे गये जबकि स्थानीय लोगों ने बताया कि इस हमले से 300 आम नागरिकों की हत्या की गयी। इसी तरह की अनेक घटनाओं में सेना ने 20,000 बेकसूर अफगानी नागरिकों को मारा है।

इन दस्तावेजों से साफ जाहिर है कि हारते समय अमरीकी सैनिक खिसियाकर बेगुनाह लोगों को निशाना बना रहे हैं। आश्चर्य की बात है कि शान्तिदूत की छवि बनाकर चुनाव जीतने वाले ओबामा के राष्ट्रपति काल में भी घिनौना अफगान युद्ध जारी है तथा बहसीपन और अन्याय की एक से बढ़कर एक मिसालें सामने आ रही हैं।

अमरीकी सेना के प्रथम श्रेणी के निजी खुफिया विश्लेषक ब्रेडली मैनिंग ने अप्रैल 2010 में विकीलीक पर एक वीडियो फिल्म प्रसारित की थी जिसमें अमरीकी सेना द्वारा 2007 में एक अपाचे हैलीकॉप्टर से बगदाद में बेगुनाह नागरिकों को मारते हुए दिखाया गया है। इन हमले में बच्चों और नौजवानों को भी निशाना बनाया गया और रॉयटर के दो पत्रकार भी मारे गये। अभी तक इसमें संलिप्त दोषी सैनिकों पर कोई आरोप पत्र दाखिल नहीं किया गया है, जबकि इस घटना का भण्डाफोड़ करने के जुर्म में विकीलीक पर मुकदमा करके सजा देने की कोशिश चल रही है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि 'शान्ति दूत' ओबामा का प्रशासन अपराधियों को नहीं, बल्कि उनका खुलासा करने वालों को ही सजा देगा।

कई चौकाने वाली घटनाएँ भी सामने आयी हैं। जैसे 3 सितम्बर 2006 के एक दस्तावेज के अनुसार आपरेशन मेडुसा के तहत अफगानिस्तान के पन्जवाये जिले में अमरीकी जेट विमान ने एक इमारत पर बमबारी की जिसमें कनाडा के चार सैनिक मारे गये। कनाडा की सेना ने इस तथ्य को छुपा लिया। 11जून 2007 के एक अन्य दस्तावेज के अनुसार

अमरीकी टास्क फोर्स ने अपने ही सहयोगी 7 अफगान सैनिकों को मार गिराया और 4 को घायल कर दिया। इन घटनाओं से अमरीका की बदहवासी की पोल खुल जाती है। न्यूयॉर्क टाइम्स समाचार पत्र ने बताया कि विकीलीक वेबसाइट के अधिकांश दस्तावेज अमरीकी सरकार के अधिकारिक दस्तावेजों से अलग नहीं है, लेकिन कई मामलों में अमरीकी सेना ने जनता को गुमराह करने वाले दस्तावेज भी जारी किये हैं। दस्तावेज बताते हैं कि अमरीकी सेना ने अफगान मीडिया और समाचार पत्रों को उसके अनुकूल खबरें प्रसारित करने के लिए पैसे दिये। अमरीकी सेना द्वारा रेडियो स्टेशन पर पहले से तैयार समाचार भेजा जाता है। इस तरह के मनगढ़न्त और झूठे किस्से प्रचारित करना उनके मनोवैज्ञानिक युद्ध का हिस्सा है।

अलग-अलग व्यक्तियों और संस्थाओं ने विकीलीक पर रहस्योद्घाटित दस्तावेजों के बारे में अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ की है। तालिबान ने कहा है कि दस्तावेज में वर्णित अफगानी मुखबिरों के बारे में जाँच-पड़ताल करके वे उन्हें कड़ी सजा देंगे, जबकि साम्राज्यवादियों द्वारा पोषित कई मानवाधिकार समूहों ने विकीलीक पर दबाव डाला है कि दस्तावेज में प्रकाशित हजारों मुखबिरों के नामों को फैलने से रोका जाय अन्यथा अफगान सरकार को दी जाने वाली अमरीकी सहायता रोक दी जायेगी।

ओबामा ने कहा है कि विकीलीक के रहस्योद्घाटन से अफगान और अमरीकी नागरिकों की जान जोखिम में पड़ जायेगी, जबकि सच्चाई यह है कि अमरीकी घुसपैठ ने ही सबसे ज्यादा अफगानी जनता की जिन्दगी को तबाह किया है। ओबामा की यह बात भी गले नही उतरती कि विकीलीक के रहस्योद्घाटन में अफगानिस्तान के बारे में कोई विशेष सूचना नहीं है। अमरीका की साम्राज्यवादी मीडिया अपनी जनता को समाचारों के एक खास दायरे में उलझाकर रखती है। वहीं प्रगतिशील अमरीकी जनता के प्रयासों और कुछ शरारती तत्वों द्वारा रहस्योद्घटित तथ्यों ने सच्चाई से परदा हटाने में काफी योगदान दिया है। इराक के अबुगरिब जेल में ली गयी घिनौनी तस्वीरों ने अमरीकी साम्राज्यवाद के चेहरे से भलमनसाहत का मुखौटा नोच लिया था। विकीलीक द्वारा रहस्योद्घाटित तथ्यों का क्या अफगानिस्तान हमले से सम्बन्धित बहस पर कोई फर्क नहीं पेड़ेगा, जिसमें सविस्तार बताया गया है कि अमरीका ने अफगानिस्तानी नागरिकों को मारकर कितना घिनौना काम किया है। कई घटनाओं की तो पहले कोई सूचना ही नहीं थी, जैसे अमरीका की खुफिया पुलिस किसी अफगानी नागरिक पर तालिबानी होने का शक होते ही उसकी हत्या कर देती है। पेण्टागन ने अब तक यह क्यों छुपाये रखा कि तालिबान ने जमीन से हवा में मार करने वाली घातक मिसाइल हासिल कर ली है और उसने कई अमरीकी वायुयानों को भी निशाना बनाया है। बुरी स्थिति का सामना करते हुए क्यों वह दूर से ही संचालित ड्रोन हमलों से तालिबानियों का निशाना बनाता रहा है?

कुल मिलाकर विकीलीक ने अमरीकी साम्राज्यवाद के मानवद्रोही, बर्बर और नृशंस चेहरे को बेनकाब करके उसकी असली युद्ध अपराधी छवि को दुनिया के सामने ला दिया है। ❑

पृष्ठ 66 का शेष

हिंसा के बाद अमरीकी उपविदेश मन्त्री दो बार यहाँ की यात्रा कर चुके हैं। किरगीस्तान अफगान युद्ध की राणनीति का हिस्सा है, इसलिए अमरीका वहाँ अपना प्रभाव बनाये रखना चाहता है। साथ ही वह अपनी सैनिक उपस्थिति भी बनाये रखना चाहता है। अफगानिस्तान और किरगीस्तान में तबाही लाने वाली अमरीकी कूटनीति का सबसे अधिक लाभ वहाँ के इस्लामी कट्टरपन्थी और ड्रग माफिया उठा रहे हैं। किरगीस्तान में कट्टरपन्थियों की बढ़ती ताकत का सीधा असर काबुल पर पड़ेगा और वहाँ तालिबान के फिर से सत्ता में आने की सम्भावना बढ़ जायेगी। इससे फरगना घाटी और किरगीस्तान में इस्लामी शक्तियाँ मजबूत होंगी। कुल मिलाकर यह क्षेत्र अमरीका के खूनी खेल का शिकार बन गया है। अमरीका कभी नहीं चाहेगा कि वहाँ की सरकार उसके सैनिक अड्डे को वहाँ से हटाये। उसे बचाये रखने के लिए वह वहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ की शान्ति सेना भेजना ज्यादा पसन्द करेगा। इस क्षेत्र में अमरीकी दखलन्दाजी कट्टरपन्थी ताकतों को मजबूत बनायेगी तथा अस्थिरता, अराजकता और बिखराव को जन्म देगी।

किरगीस्तान की तबाही साम्राज्यवादी दखन्दाजी के चलते एक खूबसूरत देश के बर्बाद होते जाने की कहानी है। अमरीका ने इसे अपने निजी स्वार्थों और विस्तारवादी मंसूबों का अखाड़ा बना दिया है। जिस तरह अफगान अर्थव्यवस्था तीन दशक तक चले युद्ध के कारण तहस-नहस हो गयी, वैसे ही किरगीस्तान भी सेवियत संघ के विघटन के बाद अमरीकी घुसपैठ के चलते चौतरफा बर्बादी का शिकार हो गया।

इस धरती पर जब तक साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था मौजूद रहेगी, दुनिया की जनता को अमन-चैन से जीने नहीं देगी। इसका विनाश जरूरी है। ❑

किरगीज संकट
साम्राज्यवादी मंसूबों का शिकार बना एक देश

□आशु वर्मा

जून के दूसरे सप्ताह में मध्य एशिया स्थित पूर्व सोवियत गणराज्य किरगीस्तान में भंयकर साम्प्रदायिक हिंसा फूट पड़ी। 10 जून को गणराज्य के दक्षिणी हिस्से में उज़बेक और किरगीज समुदायों के बीच शुरू हुए टकराव ने धीरे-धीरे पूरे देश को अपनी गिरफ्त में ले लिया। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह जानबूझकर भड़काया गया और प्रायोजित दंगा था। संगठित गैंग और जीपों पर सवार लोगों ने चुनचुनकर उज़बेक घरों और दुकानों को जलाया। इस एकतरफा हमले को दंगे की शक्ल देने तथा किरगीज और उज़बेक समुदायों के बीच टकराव को हवा देने के लिए कुछ-एक किरगीज मकान भी जलाये गए।

इस हिंसा को प्रायोजित करने का आरोप पिछले चुनाव में पराजित पूर्व राष्ट्रपति कुरमान्शेक दाकियेव के परिवार पर लगाया जा रहा है। हालाँकि दाकियेब ने इस आरोप का खण्डन किया है लेकिन यू-ट्यूब पर मई के मध्य में जारी एक वीडियो और टेलीफोन पर हुई बातीचत में उनके परिवार के दो सदस्यों द्वारा अन्तरजातीय हिंसा भड़काने की योजना बनाने के प्रमाण मिले हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रवक्ता ने कहा कि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि ओश शहर के पाँच अलग-अलग स्थानों पर मास्क पहने दंगाइयों ने एक ही समय हिंसा शुरू की।

हिंसा और दंगे की भीषणता का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि चार दिन की हिंसा में लगभग 200 लोग मारे गये और 4,00,000 लोग विस्थापित हुए जिनमें से 1,00,000 लोगों ने उज़बेकिस्तान में शरण ली। ओश शहर की लगभग 70 फीसदी इमारतें आगजनी की भेंट चढ़ चुकी हैं।

हिंसा भड़कते ही अन्तरिम राष्ट्रपति रोज़ा ओतुन्बायेव ने बार-बार रूस से सेना भेजने की अपील की। लेकिन आरम्भ में मास्को ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। यह उम्मीद की जा रही थी कि रूस किरगीस्तान में हस्तक्षेप करेगा क्योंकि यहाँ उसका सैनिक अड्डा है और यह देश पूर्व सोवियत गणराज्यों के सात सदस्यीय सामूहिक सुरक्षा सन्धि संगठन का हिस्सा भी है। लेकिन इस सन्धि के अन्य घटकों द्वारा यह हस्तक्षेप पसन्द नहीं किया जाता, शायद यही सोचकर मास्को हिचकिचाता रहा।

उज़बेक और किरगीज समुदायों के बीच जो अन्तरविरोध और टकराव मौजूद है उसका फायदा तालिबानी शक्तियों को मिल रहा है, जो अफगानिस्तान से धीरे-धीरे इस क्षेत्र में भी पैर पसार रही हैं। इसके अलावा अलगाववादी और ड्रग माफिया भी इस टकराव से लाभ उठा रहे हैं। इस मध्य एशियाई देश में महाशक्तियों द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने में मदद करने के लिए ये सभी ताकतें खासी उत्सुक रहती हैं।

1990 में सोवियत संघ के विघटन के साथ ही उसके पूर्व गणराज्यों में विकट समस्याएँ पैदा होने लगीं थीं। ठीक इसी समय अमरीका ने इस में अपनी दखलन्दाजी और बढ़ा दी। 2005 में अपने पिट्ठुओं को शह देकर अमरीका ने किरगीस्तान में नारंगी क्रान्ति करवाई और यहाँ अमरीकी मॉडल थोपने की कोशिश की। जल्दी ही उस आयातित और आरोपित मॉडल का दिवाला पिट गया। इसके बाद अमरीका वहाँ कठपुतली शासकों के माध्यम से अपने साम्राज्यवादी मंसूबों को आगे बढ़ाने का प्रयास कर रहा है। गणराज्य की हालत यह है कि यहाँ शासक वर्ग ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार में लिप्त हैं, जातीय दंगे लगातार उग्र होते जा रहे हैं और यह देश विघटन की कगार पर पहुँच गया है।

अमरिका में किरगीस्तान की पूर्व राजदूत, वर्तमान राष्ट्रपति रोजा ओतुन्बायेब लगातार बढ़ती जातीय हिंसा को रोकने में पूरी तरह असफल रही हैं। वैसे भी उनकी सरकार को वैधानिक मान्यता नहीं मिली है।

किरगीज समस्या के बहुत से कारण हो सकते हैं लेकिन इनमें सबसे महत्वपूर्ण है, 2005 की 'नारंगी क्रान्ति' जिसे सोवियत गणराज्यों में पश्चिमी शैली के लोकतन्त्र की स्थापना के लिए जॉर्ज बुश ने प्रायोजित किया था। इस साजिश को वहाँ की जनता अच्छी तरह समझ चुकी है। इसलिए किसी अमरीकी पिट्ठू के लिये वहाँ शासन चलाना आसान नहीं है।

आज मध्य एशिया में चीन रूसी नेतृत्व वाले 'सामुहिक सुरक्षा सन्धि संगठन' के माध्यम से शान्ति बहाल करना चाहता है। अमरीका अपने सैन्य अड्डे वहाँ से हटाने के बारे में कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं कर रहा है। अप्रैल की

शेष पृष्ठ 65 पर

नेपाली क्रान्ति आज : दशा और दिशा

❑बुद्धेश

नेपाली प्रधानमन्त्री माधव नेपाल के इस्तीफे के बाद से अभी तक नयी सरकार का गठन नहीं हो पाया है। गतिरोध जारी है। निवर्तमान प्रधानमन्त्री अभी भी सरकार के मुखिया बने हुए हैं। नये प्रधानमन्त्री के चुनाव के लिए संविधान सभा के सदस्य छः बार वोट डाल चुके हैं, लेकिन अभी तक प्रधानमन्त्री का चुनाव नहीं हो पाया है। एक निश्चित उद्देश्य के तहत नेकपा एमाले और मधेसी पार्टियों सहित कई छोटी पार्टियाँ इस चुनाव का बहिष्कार कर रही हैं। भारत के राजनयिक वहाँ जाकर इन्हें संकट से निजात पाने के लिए गुर समझा आये हैं। स्थिति विकट है। दुनिया भर की जनता और प्रगतिशील ताकतें चिन्तित हैं कि आखिर नेपाल में क्या हो रहा है। नेपाली क्रान्ति की स्थिति क्या है। उसके सामने चुनौतियाँ क्या हैं? बारिस का मौसम है। भूस्खलन हो रहा है। पूरे पहाड़ पर फिसलन का खतरा पैदा हो गया है। नेपाली क्रान्ति की राहें भी काफी रपटीली हो गयी हैं। क्या नेपाली क्रान्ति खुद को इन राहों के पार ले जा सकेगी!

नेपाल की वर्तमान स्थिति

2006 के जनान्दोलन के बाद यथास्थिति के प्रबल समर्थ काँग्रेसी नेता कोईराला के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार का गठन हुआ। लेकिन संविधान सभा के चुनाव टलते रहे। काफी जद्दोजहद के बाद ही संविधान सभा का चुनाव सम्पन्न हो पाया। इसमें भी करीब 2 वर्ष का महत्त्वपूर्ण समय बीत जाने दिया गया। अप्रैल 2008 में हुए संविधान सभा के चुनाव में देश-दुनिया के तमाम प्रतिक्रियावादियों के अनुमानों को धता बताते हुए माओवादी पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभर कर सामने आयी और उसे 601 सदस्यीय संविधान सभा में 240 सीटें प्राप्त हुईं। इसके बाद चार महीने की उठापटक के बाद ही माओवादी पार्टी के नेतृत्व में सरकार ने कार्यभार सँभाला।

सरकार बनने के बामुश्किल 10 महीने के भीतर ही 4 मई 2009 को सेनाध्यक्ष रूक्मांगद कटवाल की बर्खास्तगी के मुद्दे पर माओवादी सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। सेनाध्यक्ष ने सरकार की अवहेलना शुरू कर दी थी। ध्यान रहे, सेनाध्यक्ष की राजभक्ति पहले से ही जग जाहिर थी। इनका यह वर्तमान आचरण इसी के अनुरूप था। चार ऐसे गम्भीर मामले थे जिन पर सेनाध्यक्ष ने निर्वाचित सरकार की राय के विरुद्ध जाकर काम किया था। इसी से आजिज आकर माओवादी पार्टी, एमाले और मधेसी जनाधिकार फोरम सभी ने मिल कर सेनाध्यक्ष को बर्खास्त करके नागरिक सर्वोच्चता बहाल करने का मन बनाय। एमाले पार्टी के अध्यक्ष, महासचिव और सरकार में उनके प्रतिनिधि, तीनों ने माओवादी पार्टी के प्रमुख और प्रधानमन्त्री प्रचण्ड को सूचित किया कि सेनाध्यक्ष की बर्खास्तगी के मुद्दे पर एमाले उनके साथ है। इस तरह का समर्थन मिलने के बाद प्रचण्ड ने 3 मई 2009 को सेनाध्यक्ष को बर्खास्त कर दिया। यहीं पर एमाले पार्टी का प्रतिक्रियावादी धड़ा सामने आया, जिसका संगठन पर काफी प्रभाव है। उसने पार्टी को अपनी स्थिति से पलटने और माओवादी पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार से अपना समर्थन वापस लेने के लिए बाध्य किया जिससे माओवादी सरकार अल्पमत में आ गयी। काँग्रेस पार्टी पहले से ही माओवादी सरकार में शामिल नहीं थी। इतना ही नहीं, बर्खास्तगी के कुछ ही घण्टों के भीतर राष्ट्रपति ने सेनाध्यक्ष को दुबारा बहाल कर दिया। स्पष्ट था कि राष्ट्रपति माओवादी सरकार के खिलाफ थे और ''किसी निश्चित उद्देश्य'' के लिए सेनाध्यक्ष को बहाल करने का फैसला किया था। परिणामतः प्रचण्ड के नेतृत्व वाली सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। इसके बाद एमाले के प्रतिक्रियावादी धड़े के नेता माधव नेपाल काँग्रेस और बाकी पार्टियों की मदद से नयी सरकार बनाने में कामयाब हुए। माओवादी पार्टी ने राष्ट्रपति के इस कदम को ''असंवैधानिक'' करार दिया और इसे नागरिक सर्वोच्चता के खिलाफ मानते हुए आन्दोलन की शुरूआत की। महीनों तक आन्दोलन चला। अन्ततः सरकार को झुकना पड़ा और माधव नेपाल के नेतृत्व वाली सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। 2006 के बाद नेपाल की जनता तीन प्रधानमन्त्री देख चुकी है। चौथे की तलाश जारी है।

नेपाली समाज, पिछले तीन वर्षों में काफी उथल-पुथल से गुजरा है। राजशाही का उन्मूलन कर नेपाल को गणराज्य घोषित कर दिया गया है। राजा के सिर से विशेषाधिकारों का बोझ हटा कर उसे एक सामान्य नागरिक के स्तर तक ऊँचा उठा दिया गया है। अब वह नागरिक गतिविधियों में शामिल हो सकता है। नेपाल की शाही सेना का नाम बदल दिया गया है और नेपाल को हिन्दू राष्ट्र की जगह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया

जा चुका है। लेकिन आम जनता को, कुछ खास हासिल नहीं हुआ है। उसे रोजगार, जमीन और शान्ति नहीं मिली है।

नेपाली क्रान्ति की चुनौतियाँ और एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी-माओवादी की भूमिका

जब अप्रैल 2006 में नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में 20 लाख लोग राजमहल की ओर बढ़ रहे थे तो उनके मन में राजा को हटा कर एक नये नेपाल का निर्माण करने का सपना था। उस समय उनको माओवादी पार्टी पर यकीन था। उस घटना के बाद चार वर्ष से भी ज्यादा समय गुजर चुका है। नेपाली जनता की आकांक्षाएँ और उनके सपने, उनके हित और उनकी जरूरतें, रोजगार, रोटी और जनवाद की उनकी माँग पूरी होती दिखाई नहीं दे रही है। जनता को उस समय जिस उषा की लाली का आभास हुआ था, उसके बाद का सूर्योदय अभी तक नहीं हुआ है।

सात पार्टियों और माओवादियों के बीच सम्पन्न 12 सूत्री समझौते ने नेपाल को जहाँ राजनीतिक रूप से राजशाही से मुक्ति दिलायी है वहीं हद दर्जे तक अलोकप्रिय हो चुकी राजनीतिक पार्टियों, उनके भ्रष्टाचार में डूबे राजशाही-भक्त नेताओं को जनता के एक हिस्से में स्थापित भी किया है। क्रान्तिकारी शक्तियाँ जितनी मजबूत तब थीं, प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने आज उसी अनुपात में खुद को मजबूत कर लिया है और मोर्चे पर आ डटी हैं। अपने वर्गीय चरित्र के अनुरूप छल-कपट के माध्यम से उन्होंने माओवादी पार्टी के हाथों से सरकार की बागडोर छीन ली, राजभक्त-प्रतिक्रियावादी सेनाध्यक्ष को बहाल किया और शासन-प्रशासन में अपनी स्थिति मजबूत करने में जुट गये। उन्होंने जनमुक्ति सेना के नेपाली सेना में समायोजन से इंकार कर दिया, यूथ कम्यूनिस्ट लीग (जो माओवादियों का नौजवान संगठन है) को भंग करने की माँग की और जनयुद्ध के दौरान सामन्ती वर्ग और प्रतिक्रियावादी वर्ग से छीनी गयी सम्पत्ति को वापस करने का दबाव बनाया। उन्होंने यह सब 12 सूत्रीय समझौते की अपनी तरह से व्याख्या करते हुए किया। हमारे भोले माओवादी सफाई देते रहे, 12 सूत्रीय समझौते की गलत व्याख्या मत करो' की बात करते रहे और ''तीसरे-जनान्दोलन'' की धमकी देते रहे। प्रतिक्रियावादी अपना काम करते रहे और माओवादी जनान्दोलन करते रहे। सह-अस्तित्व चल रहा है। एक नये रूप में 1990 की क्रान्ति दोहराई जा रही है।

दरअसल, नेपाल में जिस माओवादी पार्टी ने जनता की मुक्ति के एजेण्डे को पेश किया और उसको जनयुद्ध द्वारा स्थापित किया, वही माओवादी पार्टी संविधान सभा के जरिये जनता की मुक्ति के विचारधारात्मक विकास में लग गयी। इक्कीसवीं सदी की पहली क्रान्ति करने के लिए 'नेपाली मॉडल' विकसित करने में माओवादी पार्टी इतनी तल्लीन हो गयी कि उसे बीसवीं सदी की क्रान्तियों के सबक पुराने लगने लगे। नेपाली माओवादी क्रान्ति के विज्ञान को विकसति करते हुए उसे बहुदलीय जनतन्त्र और बहुदलीय प्रतिस्पर्द्धा तक ले आये हैं, जो बहुदलीय सह-अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं है।

नेपाली माओवादी पार्टी की कुछ मुख्य गलतियाँ, कमियाँ और सीमाएँ

20वीं सदी में क्रान्तियों की असफलता और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों की तलाश करते हुए नेपाली माओवादियों ने अपनी सीमाओं के मुताबिक ''विचारधारा का विकास'' करना शुरू कर दिया और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के सबक को लाँघकर बहुदलीय जनतन्त्र और बहुदलीय प्रतिस्पर्द्धा तक जा पहुँचे हैं। माओवादी पार्टी ने इसे सन् 2000 में हुए अपने पार्टी अधिवेशन में स्वीकार किया। 3 दिसम्बर 2001 को एक साक्षात्कार में पार्टी प्रमुख प्रचण्ड ने कहा कि ''हम निश्चित ही एक दलीय तानाशाही के खिलाफ हैं। नये जनतन्त्र में सामन्तवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी सभी राजनीतिक पार्टियों को पूरी स्वतन्त्रता होगी।'' इसी बात को माओवादी पार्टी के दूसरे महत्त्वपूर्ण नेता बावूराम भट्टराई ने अप्रैल 2003 में दुहराया कि ''हम एक ऐसे बहुदलीय जनतन्त्र के हिमायती हैं। जिसमें निर्णय लेने का अन्तिम अधिकार जनता के पास हो।'' यहाँ माओवादी यह भूल जाते हैं कि यह सब तो बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की राजनीतिक माँग है और नव जनवादी क्रान्ति की माँग के नीचे है। आखिर बुर्जुआ लोकतन्त्र में भी तो निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है और सभी राजनीतिक दल चुनाव में हिस्सेदारी और राज्य संचालन के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यहाँ सवाल यह है कि अगर नेपाल नवजनवादी क्रान्ति की देहलीज पर खड़ा है तो उस क्रान्ति का नेतृत्व कौन-सा वर्ग करेगा? उस वर्ग की पार्टी के क्या कार्यभार होंगे? दूसरे शब्दों में अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक क्रान्ति का नेतृत्व किसके हाथ में होगा? मेहनतकश वर्ग के हाथ में, मजदूर-किसान वर्ग के हाथ में या फिर बुर्जुआ वर्ग के हाथ में, प्रतिक्रियावादी और साम्राज्यवाद-परस्त (भारत-परस्त) वर्ग के हाथ में!

नेपाली माओवादी पार्टी के भीतर यह मुद्दा अभी जीवित है। दो लाईनों का संघर्ष अभी जारी हैं एक धारा यह मानती है कि जो उपलब्धियाँ हमने हासिल की हैं, उसे सुदृढ़ किया जाए। इसी रास्ते नवजनवादी क्रान्ति सम्पन्न होगी। जबकि दूसरी धारा मानती है कि हमने नेपाल को गणराज्य तो बना दिया लेकिन इसे अभी संघात्मक लोकगणराज्य बनाना बाकी है। यह धारा कहती है कि पार्टी का घोषित उद्देश्य गणराज्य, अन्तरिम

सरकार और संविधान सभा, पूरा हो गया है। अब हमें इससे आगे बढ़ना होगा। एक तीसरी धारा भी है जिसका कहना है कि हम रूस और चीन के प्रयोग को दुहराने के बजाय तीन 'स' सरकार, सदन, सड़क के रास्ते संघर्ष करते हुए क्रान्ति को सम्पन्न करेंगे। बताया जा रहा है कि नेपाली माओवादी पार्टी की केन्द्रीय कमेटी चार सूत्री लक्ष्य शान्ति संविधान, नागरिक सर्वोच्चता और राष्ट्रीय सरकार को सामने रख कर तीसरे जनान्दोलन की तैयारी कर रही है। हालाँकि पार्टी ने 1 मई 2010 से इसकी शुरूआत की घोषणा की थी और लाखों की संख्या में जनता काठमाण्डू की सड़कों पर उतर भी आयी थी लेकिन देश की जनता के एक हिस्से के विरोध के चलते इसे वापस ले लिया गया। पार्टी अध्यक्ष ने सफाई दी कि हमारी तैयारी पूरी नहीं थी।

आज नेपाल में, जहाँ क्रान्तिकारी पार्टी के पास एक सर्वमान्य कार्यदिशा का अभाव दिख रहा है, रणकौशल को हद तक खींचने की कोशिश दिख रही है, वहीं बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादी पार्टीयाँ लगातार मजबूर होती जा रही हैं। जनता में उहापोह की स्थिति है। उनको नेतृत्व देने वाली पार्टी की उनसे दूरी बढ़ रही है। क्रान्तिकारी पार्टी के तमाम छोटे-बड़े नेता काठमाण्डू में ज्यादा नजर आने लगे हैं। जन युद्ध के दौरान स्थापित की गयी समानान्तर सत्ताएँ खत्म हो रही हैं। जनता की पहलकदमी धरना-प्रदर्शन-जुलूस तक सिमटती जा रही है और समय हाथ से निकलता जा रहा है।

जिस स्पष्ट दृष्टिकोण और स्वतन्त्र पहलकदमी के चलते माओवादी पार्टी ने जनता के दिलों में जगह बनायी थी, आज वह धूमिल होता दिख रहा है। उसका बढ़ता वैचारिक विभ्रम और धुँधलापन उसे एमाले (कम्यूनिस्ट पार्टी एकीकृत मार्क्सवादी लेनिनवादी) की दिशा में बढ़ाता प्रतीत हो रहा है। यह स्थिति नेपाली क्रान्ति और नेपाल की बहुसंख्यक क्रान्तिप्रिय जनता के लिए चिन्ताजनक और घातक है। माओवादी पार्टी ने अपने आचरण और व्यवहार से साबित किया है तथा जनता ने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों से जाना है कि आज भी वही पार्टी नेपाल की जनता के हितों की नुमाइन्दगी करती है। नेपाल को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने, उसे अर्द्धऔपनिवेशिक, अर्द्धसामन्ती शासन प्रणाली उत्पादन प्रणाली से मुक्त करने का दायित्व भी उसी का है। इसलिए दुनिया की प्रगतिशील ताकतों और मेहनतकश आवाम की उत्सुकता यह जानने में है कि नेपाली क्रान्तिकारियों का 'ऐमालेकरण' आगे बढ़ेगा या थमेगा। ❑

धूबनाथ की कविता

इस शहर में

अब/इस शहर में कोई
भूखा नहीं सोएगा
सबको मिलेगी/दो वक्त की रोटी
सिर पर छत/हाथों को रोजगार
आँखों को सपने
साफ-सुथरी सड़कों पर
हवा से बातें करेंगी गाड़ियाँ
फ्लाइओवर ब्रिज जोडेंगे
शहर के एक छोर को दूसरे से
धरती, आसमान, पानी पर दौड़ेंगी कारें
मिनटों में पहुँचेंगे/एक सिरे से दूसरे तक
अस्पताल होंगे सुसज्जित, सुविधा-संपन्न
स्कूल गोलमटोल स्वस्थ बच्चों से भरेपूरे
बगीचे फूलों से खिलखिलाते
तालाब कमलों से गदराये
फुटपाथ भिखरियों से खाली
रेलवे स्टेशन चमचमाते
बस अड्डे जगमगाते
सुंदरियाँ बाजारों में इठलाती
बालाएँ रैम्प पर बलखाती
गलियाँ कुत्तों-गायों से मुक्त
मंदिर-मस्जिद भक्तों से भरे
बैंक धन से भरे/सेंसेक्स अंकों से भरे
कहीं भी/अभाव, गंदगी, विपन्नता का
नामोनिशान नहीं
यह बीसवीं सदी का
सड़ा गला शहर नहीं
इक्कीवीं सदी का/ग्लोबलाइज्ड शहर है
अब/इस शहर में
कोई भूखा/नहीं सोएगा
क्योंकि भूखों के लिए
इस शहर के बाहर
एक दूसरा शहर
बसाया जा रहा है
वैसे भी
भूखों को नींद कहाँ आती है। ❑

भूगर्भ जल संकट का जिम्मेदार कौन

❑अरविन्द

इस साल की अच्छी वर्षा को देखते हुए बहुत-से लोग शायद यह सोचने लगे हैं कि भूजल संकट अब समाप्त हो जायेगा। लेकिन बात इतनी सरल नहीं है। पृथ्वी के अन्दर संचित पानी का छीजते जाना एक आपदा का रूप लेता जा रहा है। इस आपदा को आम लोग अपने दैनन्दिन जीवन में तो महसूस कर ही रहे हैं, अब सरकारें और अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ भी इसे खुले तौर पर स्वीकार करने के लिए बाध्य हो गयी हैं।

किसान और आम लोग इस समस्या का सामना भूजल स्तर (चोवा) नीचे जाने के रूप में कर रहे हैं। जिन इलाकों में पहले 30 फुट गहराई से भरपूर शुद्ध पानी उपलब्ध हो जाता था और नलके तथा नलकूप थोड़ी-सी शक्ति लगाने पर खूब पानी देते थे, उन्हीं इलाकों में आज पीने के पानी के स्रोत नलके सूख गये हैं और सिंचाई के साधन-नलकूप बन्द हो गये हैं। अब उनकी जगह पर 100-150 फुट गहरी बोरिंग करने और सबमर्सिबुल पम्प लगाने के लिए लोग मजबूर हो गये हैं। यदि 80-90 फुट पर कभी-कहीं पानी निकल भी आता है तो वह बुरी तरह दूषित होता है और अनेक बिमारियों का कारण बनता है। यहाँ तक कि किसी-किसी क्षेत्र में इस पानी से दुर्गन्ध भी आती है।

देश के ढेर-सारे इलाकों में सरकारी संस्थाओं ने 100-120 फुट तक के पानी को पीने के लिए अयोग्य घोषित कर दिया है। छीजते भूगर्भजल की आपदा को स्वीकार करने के बाद कुछ क्षेत्रों में इसकी भरपाई के लिए सरकारी योजनाएँ बनायी गयी हैं लेकिन ज्यादातर योजनाएँ दिखाऊ शाह का डोला साबित हुई हैं। कई अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ शोध करने में लगी हैं कि इस आपदा की स्थिति कहाँ कितनी भयावह है और सम्भावित परिणाम क्या हो सकता है।

जो हाल भूगर्भजल का है, वही हाल नदियों-झीलों का और हिमनदों का है। यानी पानी का संकट निकट-भविष्य में इन्सानियत के सामने विभीषिका बन कर खड़ा होने वाला है। जाहिर है, इस विभीषिका की मार आम जनता को ही झेलनी पड़ेगी।

भूगर्भजल का संकट पिछले 15-20 वर्षों में आपदा का रूप लेता गया है। यह आपदा प्राकृतिक है या मुनाफे की हवस का परिणाम? आइये, इसके कारणों की तहकीकात की जाए।

भारत में जब से वैश्वीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई तब से विकास की परिभाषा और इसका पैमाना बदल गया है। इस पैमाने में आम जनता, प्रकृति, प्राकृतिक संसाधन, आदिवासी समुदाय आदि कोई महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए प्राकृतिक संसाधनों के छीजने की समस्या न ही केवल भूगर्भजल के संकट के रूप में दिखायी दे रही है, बल्कि नदियों और समुद्री मछलियों की संख्या और मात्रा घटते जाने के रूप में, जंगलों के नष्ट होने और उनका क्षेत्रफल कम होन के रूप में, और अन्य प्राकृतिक संसाधनों के विनाश के रूप में भी सामने आ रही है। यह भी कहा जा रहा है। कि 2050 तक गंगा नदी का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

चाहे देशी पूँजी हो या विदेशी, जब से सट्टेबाजी को मुनाफा कमाने की मुख्य गतिविधि बना दिया गया है, तभी से भवन-निर्माण को उद्योग के रूप में प्रमुखता मिली है। ढेरों एसईजेड (सेज) और यमुना एक्सप्रेस-वे तथा गंगा एक्सप्रेस-वे आदि राजमार्गों के किनारे नये-नये शहर बसाने के लिए जमीनों का अधिकग्रहण करके उन पर भवन-निर्माण किया जा रहा है। इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास के नाम पर स्वर्णिम चतुर्भुज, नार्थ-साउथ कोरिडोर, ताज कोरिडोर और अन्य एक्सप्रेस-वे तथा हाई-वे के निर्माण के साथ-साथ चलने वाली प्रक्रिया के रूप में ही भवन-निर्माण का उद्योग फूला-फला है। इसके परिणामस्वरूप जमीन का एक बहुत बड़ा हिस्सा पक्का कर दिया गया है। फलतः बरसात और अन्य स्रोतों से प्राप्त पानी का जमीन के भीतर रिस-रिस कर जाना बुरी तरह-से बाधित हो गया है, जबकि ठीक उन्हीं जगहों पर पानी की खपत बहुत ज्यादा बढ़ जाती है और भूजल का अतिरिक्त दोहन शुरू हो जाता है।

भवन-निर्माण और राजमार्ग-निर्माण के लिए प्रतिवर्ष दसियों लाख पेड़ काट दिये जाते हैं। पेड़ों के काटे जाने से भी जमीन में जल का रिसाव कम हो जाता है। जंगलों को नष्ट किया जाना और उनका क्षेत्रफल कम होते जाना भी जग-जाहिर है। पेड़ों और वनस्पतियों का कटान और जंगलों को नष्ट किये जाने से जमीन में जल का रिसाव तो कम होता ही है, साथ ही वर्षा भी कम हो जाती है। इससे जल-रिसाव और भी कम हो जाता है।

जल-रिसाव द्वारा जमीन के भीतर पानी संचित करने के अन्य स्रोत हैं तालाब, झील, जलाशय इत्यादि। इन जल-स्रोतों की तलहटी से पानी रिस-रिस कर जमीन के अन्दर पहुँचता है

और भूगर्भजल का प्राकृतिक रूप से संचय होता रहता है। नकदी फसल की खेती करने, भवन-निर्माण आदि के लिए तालाबों को पाट दिया जाना आम बात है। जिन स्थानों पर दस साल पहले बड़े-बड़े तालाब दिखायी देते थे, आज उन्हीं जगहों पर घर बना दिये गये हैं या खेती होने लगी है। ऐसा 3,00,000 तालाब और जलस्रोत, जो सदियों से भूगर्भजल संचय करने में अपनी भूमिका निभाते आ रहे थे, आज नष्ट हो गये हैं।

यही हाल झीलों और जलाशयों का है। उदयपुर की झील में पानी कभी सूखता ही नहीं था, जिससे यह पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बनी रहती थी। लेकिन वह झील अब सूख चुकी है। भरतपुर पक्षी अभ्यारण्य में भी हजारों एकड़ पानी का स्रोत सूख चुका है और अब वहाँ साइबेरिया के मेहमान पक्षी नहीं आ रहे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में स्थित सुरहाताल का क्षेत्रफल लगातार सिकुड़ता जा रहा है। चण्डीगढ़ के सुखनाताल का क्षेत्रफल भी कम होता जा रहा है।

झीलों और जलाशयों का सूख जाना या उनका क्षेत्रफल कम होते जाना देशव्यापी समस्या बन चुका है। इसके प्रत्यक्ष परिणाम तो नुकसानदेह हैं ही साथ ही इन जल स्रोतों की तलहटी से रिसाव होकर भूगर्भजल संचित होने की प्रक्रिया रुक-सी गयी है।

हिमनदों के पिघल जाने, बर्फ न पड़ने या कम पड़ने और वर्षा में कमी के कारण नदियों में पानी साल-दर-साल कम होता गया है। 15-20 साल पहले इलाहाबाद में यमुना संगम से ठीक पहले गर्मी के दिनों में गंगा के एक पाट पर खड़ा होकर देखने से दूसरा पाट नहीं दिखायी देता था। लेकिन आज उसी जगह पर मई-जून में गंगा नदी में घुटना-भर पानी भी नहीं होता है। यह वही गंगा नदी है जिसके जल के वेग को सँभालने के लिए शिव को अपनी जटा फैलानी पड़ी थी। दिल्ली में गर्मी के दिनों में गटर बन जाने वाली यमुना नदी से झोट्टा-बुग्गी पार करने का दृश्य और उसके पानी की दुर्गन्ध को एक साथ देखा-सूँघा जा सकता है। नदियों में कम पानी के कारण पाट सिकुड़ जाने से भी भूगर्भजल संचय की प्रक्रिया बाधित हुई है।

ग्लोबल वार्मिंग, प्रदूषण, पर्यावरण के नष्ट होते जाने और अलनिनो प्रभाव इत्यादि कारणों से मानसून का प्रभावित होना, फलतः वर्षा में कमी, बर्फ कम पड़ने के कारण जल की कमी, हिमनदों के सिकुड़ने जाने के कारण नदियों में पानी की कमी आदि कारणों से भूगर्भजल संचय के लिए उपलब्ध पानी कम होता गया है।

इस तरह, उपर्युक्त कारणों ने भूगर्भजल संचय को न ही केवल प्रभावित किया है, बल्कि इस प्रक्रिया को ही क्षत-विक्षत कर दिया है।

तो क्या यह प्राकृतिक संकट है?

भवन-निर्माण, राजमार्ग निर्माण, पेड़ों और जंगलों का काटा जाना, ग्लोबल वार्मिंग, प्रदूषण, पर्यावरण का नष्ट होना इत्यादि कोई भी कारण प्राकृतिक नहीं है। इनमें से एक भी कारण ऐसा नहीं है जिसका सामाजिक हित के लिए रंच-मात्र भी महत्त्व हो। इनके पीछे मुनाफा और अधिक मुनाफा कमाने तथा पूँजी बटोरने की हवस है और यह प्रक्रिया वैश्वीकरण के साथ तेज हुई है।

एक ओर तो भूगर्भजल संचय की प्रक्रिया रुक-सी गयी है। दूसरी ओर उपलब्ध भूगर्भजल का दोहन भी बढ़ गया है ढेरों कारखाने, जो अपने पानी की जरूरत नदियों से पूरा किया करते थे, अब नलकूप से पानी निकालते हैं। नदियाँ उनके लिए गन्दगी फेंकने की जगह बन कर रह गयी हैं। अपने गन्दे पानी की सफाई के लिए उन्हें कुछ पैसे खर्च करने पड़ते हैं। इस जहमत से बचने के लिए बहुतेरे कारखाने अपना गन्दा पानी नलकूप के रास्ते चोरी-छुपे जमीन में डाल देते हैं। इस प्रकार छीजता भूगर्भजल प्रदूषित भी होता रहता है। प्रदूषित भूगर्भजल का प्रत्यक्ष उदाहरण गाजियाबाद जिले के साहिबाबाद औद्योगिक क्षेत्र तथा हिण्डन नदी के आस-पास के गाँवों में देखा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में उच्चवर्गीय खेलों को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा है। उन्हीं खेलों में से एक खेल है गोल्फ। केवल एक गोल्फ कोर्स के सैकड़ों एकड़ के मैदान में घास की सिंचाई और पूरे मैदान को नम और हरा-भरा रखने के लिए प्रतिदिन इतना पानी खर्च होता है जितने से किसी छोटे-मोटे शहर के लिये पानी की दैनिक जरूरत पूरी की जा सकती है। गोल्फ कोर्स के इस पानी की आपूर्ति आम तौर पर संचित भूगर्भजल से होती है। पानी का यह दोहन आमजन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नहीं किया जाता, बल्कि करोड़पतियों और उनकी बिगड़ैल औलादों के मनोरंजन के लिए होता है। गोल्फ कोर्स में आम आदमी केवल कुली और बैरा के रूप में मौजूद रहता है, जो उन साहब-साहिबा को गोल्फ के डंडे पकड़ाता है और उन्हें खाने-पीने की सामग्रियाँ परोसता है।

भूगर्भजल संकट जैसे-जैसे बढ़ता गया है, वैसे-वैसे पीने के पानी का संकट भी बढ़ता गया है। इसलिए बोतलबन्द पानी का व्यवसाय खूब फूला-फला हैं। बड़े शहरों के आस-पास जहाँ कहीं भी थोड़ा साफ भूगर्भजल उपलब्ध है, उससे बोतलबन्द पानी तैयार करने के लिए नलकूप हनहनाते रहते हैं और भूगर्भजल का दोहन चलता रहता है।

जब हर तरफ प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा और संरक्षण

की अनदेखी करके मुनाफा बटोरने और पूँजी बढ़ाने की निजी कोशिश की जा रही हो तो किसान भी चाहते हैं कि उनकी पैदावार बढ़े और उन्हें ज्यादा लाभ मिले। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गन्ने की खेती करने वाले। बहुत-से किसान सोचते हैं कि गन्ने में जितना पानी दिया जाये फसल को उतना ही फायदा होगा। सिंचाई व्यवस्था जो मुगलों और अंग्रेजों के शासन काल में भी सार्वजनिक थी उसे किसानों की निजी जिम्मेदारी बना देने का ही यह परिणाम है एक तरफ किसानों के ऊपर सिंचाई के साधनों का भारी बोझ और दूसरी ओर भूगर्भजल का आवश्यकता से अधिक दोहन। नहरों की व्यवस्था होती यह दोनों समस्याओं नहीं होती।

कुल मिलाकर कहा जाए तो भूगर्भजल संकट के पीछे एक ओर जमीन के भीतर रिस-रिस कर पर्याप्त मात्रा में पानी का संचित न होना जिम्मेदार है और दूसरी ओर अनावश्यक और अतिरिक्त दोहन जिम्मेदार है। जब भी संचय से अधिक खर्च किया जाता है, तो संकट दस्तक देने लगता है। इस मामले में भी यह बात लागू होती है। जल संचय में कमी और उसके दोहन में बढ़ोत्तरी ये दोनों गतिविधियाँ पूँजीवादी हवस से पैदा हुई हैं। इस संकट के पीछे कोई प्राकृतिक कारण जिम्मेदार नहीं है।

सभी प्रकार के प्राकृतिक स्रोतों से पूरे देश में कुल मिलाकर हर वर्ष 4,000 अरब घन मीटर (अ.घ.मी.) पानी प्राप्त होता है (1 घन मीटर के बराबर 1,000 लीटर)। इसमें 700 अ.घ.मी. पानी वाष्प बन कर उड़ जाता है। यदि पेड़ों, वनस्पतियों और जंगलों की रक्षा की जाए और उनका क्षेत्रफल बढ़ा दिया जाए तो इस वाष्पीकरण को कम किया जा सकता है और भरपूर वर्षा करायी जा सकती है। 1500 अ.घ.मी. पानी नालों-नदियों से होते हुए समुद्र में बह जाता है। यही पानी बाढ़ की विभीषिका लाता है, जो कभी कोसी नदी के आस-पास के गाँवों-शहरों को उजाड़ता है, तो कभी ब्रह्मपुत्र के किनारे के गाँवों-शहरों को। बाढ़ का कारण बनने वाले इस 1500 अ.घ.मी. पानी को नदियों से जोड़कर देश के जरूरतमन्द हिस्सों में पहुँचा दिया जाए तो इसके त्रिआयामी लाभ हो सकते हैं बाढ़ की विभीषिका पर नियन्त्रण, जरूरतमन्द इलाकों में पानी उपलब्ध कराना और भूगर्भजल का संचय। इसके अलावा पर्याप्त मात्रा में विद्युत उत्पादन किया जा सकता है।

भूगर्भजल में दो तरह का पानी होता है। एक वह जो जमीन सोख लेती है, अर्थात् मिट्टी के कणों के बीच संचित हुआ पानी। प्राप्त जल में से 700 अ.घ.मी. पानी इस रूप मे संचित होता है। कुँओं और गहरे जलाशयों के पानी का स्रोत यही संचित जल है। दूसरा वह जो चट्टानों के बीच में एक्वीफर के रूप में इकट्ठा रहता है। 430 अ.घ.मी. पानी इस स्रोत की भरपाई में जाता है। मिट्टी द्वारा सोख कर संचित किये गये पानी के अन्धाधुन्ध दोहन के बाद अब यह एक्वीफर पूँजीवादी हवस के निशाने पर है। भूगर्भजल का संकट इसी दो तरह के जलस्रोतों के छीजने का संकट है। इन जलस्रोतों के छीजते जाने का अर्थ है इन्सानियत के अस्तित्व पर ही खतरे के बादल मँडराना।

जहाँ तक पानी के उपभोग का सवाल है, पूरे देश में सालाना केवल 370 अ.घ.मी. पानी का ही इस्तेमाल होता है। वाष्पीकरण को कम करके और नदियों के अतिरिक्त पानी को जरूरतमन्द इलाकों में पहुँचा कर जलसंकट पर काबू पाया जा सकता है। नदियों को जोड़ने का अनुमानित खर्च केवल 11-12 अरब डॉलर है, यानी प्रतिव्यक्ति 10 डॉलर। पूँजीपतियों के हित-पूर्ति के लिए छोटी-सी बात पर अरबों डॉलर खर्च कर डालने वाली सरकार क्या यह खर्च नहीं उठा सकती? लेकिन यह तो तभी हो सकता है जब सरकार वास्तव में जनता की सरकार हो और वह उसके दुख से चिन्तित हो।

पानी का वाष्प बनकर उड़ जाना, बाढ़ की विभीषिका में बदल जाना और भूजल सम्पदा का विनाश ये ऐसी समस्याएँ हैं, जिन्हें एक या दो व्यक्ति, एक या दो गाँव या एक-दो जिले के स्तर पर ठीक नहीं किया जा सकता है। इसके लिए एक उन्नत, संवेदनशील और केन्द्रीकृत योजना की जरूरत होगी, पूँजीवाद न तो संवेदनशील होता है और न ही केन्द्रीय योजनाबद्धता में विश्वास करता है। इसलिए भूगर्भजल संकट का स्थायी समाधान पूँजीवादी व्यवस्था में सम्भव नहीं है, विशेषकर तब, जब यह अपने ह्रासोन्मुख और रुग्ण अवस्था में पहुँच गया हो। इस संकट का समाधान पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की जगह एक उन्नत उत्पादन प्रणाली में ही सम्भव है, जिसमें हर गतिविधि के केन्द्र में मुनाफा नहीं बल्कि इन्सान होगा, आम आदमी होगा, मजदूर-किसान और मेहनत करने वाले लोग होंगे और प्रकृति के संरक्षण के प्रति सार्वजनीत सरोकार होगा। ❑

रहिमन पानी राखिये,
बिन पानी सब सून,
पानी गये न ऊबरे,
मोती, मानुष, चून।